जैनधर्म की कहानियाँ
भाग - २०

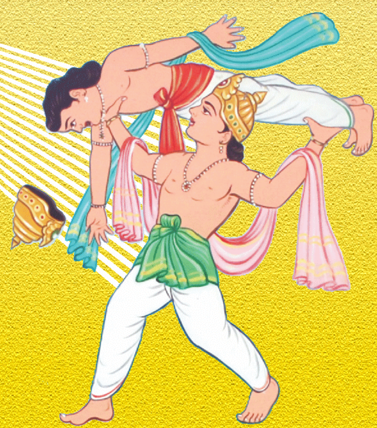

राजा वरांग ने
अनेक लौकिक शत्रुओं को
जीतने के बाद
कर्मशत्रुओं को जीतने हेतु
पारलौकिक जैनेश्वरी दिगम्बर दीक्षा
धारण कर समाधिमरण पूर्वक
देव गति प्राप्त की।

प्रकाशक
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन – खैरागढ़
श्री कहान स्मृति प्रकाशन – सोनगढ़

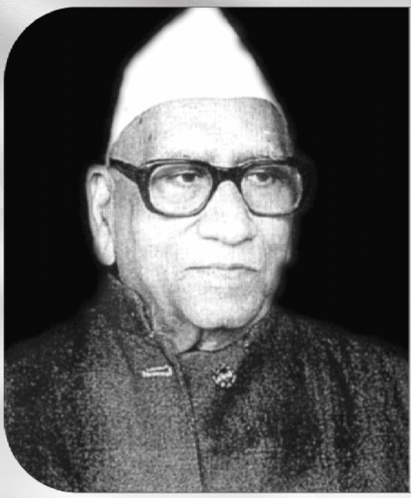

श्री खेमराज गिड़िया
जन्म : 27 दिसम्बर, 1918
देहविलय : 4 अप्रेल, 2003

श्रीमती धुड़ीबाई गिड़िया
जन्म : 1922
देहविलय : 24 नवम्बर, 2012

आप दोनों के विशेष सहयोग से सन् १९८८ में **श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया** ग्रन्थमाला की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य एवं पौराणिक कथाएँ प्रकाशित करने की योजना का शुभारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं –

जन्म : सन् १९१८ चांदरख (जोधपुर)
पिता : श्री हंसराज, **माता :** श्रीमती मेहंदीबाई

शिक्षा/व्यवसाय : प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही व्यवसाय में लग गए।
सत्-समागम : सन् १९५० मेंपूज्य श्रीकानजीस्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा : सन् १९५३ में मात्र ३४ वर्ष की आयु में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में अल्पकालीन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर धर्मसाधन में लग गये।

विशेष : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने।

सन् १९५९ में खैरागढ़ में दिग. जिनमंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभहस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया।

सन् १९८८ में ७० यात्रियों सहित २५ दिवसीय दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना करते थे।

हम हैं आपके बताए मार्ग पर चलनेवाले

पुत्र : दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल, प्रेमचंद एवं समस्त गिड़िया कुटुम्ब।

पुत्रियाँ : ब्र. ताराबेन एवं ब्र. मैनाबेन।

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का २८वाँ पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग - २०)

लेखक :

आचार्य श्री जटासिंहनंदि विरचित

हिन्दी अनुवादक :

श्री प्रशम जीतू भाई मोदी, सोनगढ़

सम्पादक :

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

महावीर चौक, खैरागढ़ – ४९१ ८८१ (छत्तीसगढ़)

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

कहान रश्मि, सोनगढ़ – 364250 (सौराष्ट्र)

द्वितीय संस्करण - ११०० प्रतियाँ कुल : ३३०० प्रतियाँ

पंचकल्याणक महोत्सव, ढ़ाई द्वीप इन्दौर के अवसर पर

(२० से २६ जनवरी, २०२३)

न्यौछावर : 15 रुपय मात्रे

प्राप्ति स्थान

१. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

२. पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली
कहाननगर, वेलतगांव रास्ता, लामरोड, देवलाली, नासिक-४२२ ४०१

३. तीर्थधाम मंगलायतन,
पो.- सासनी-२०४ २१६
जिला- हाथरस (उ.प्र.)

४. श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट,
आचार्य कुन्दकुन्द नगर, सोनागिर सिद्धक्षेत्र
४७५ ६८५, जिला-दतिया (म.प्र.)

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था –

जैन कम्प्यूटर्स,

मोबाइल : 8619975965, 9414717816
e-mail : jaincomputers74@gmail.com

साहित्य प्रकाशन फण्ड

श्री तुषार भाई देसाई ह. जसु बेन, सोनगढ़	५००१/-
श्रीमती श्रुति अभयकुमार जैन ह.संयम आत्मन् जैन खैरागढ़	१००१/-
हेमा बेन, सोनगढ़	५०१/-
चंदनबेन मेहता, जामनगर	५०१/-
सौ. मंजुला बेन रसिकलाल शाह, घाटकोपर	५०१/-
श्रीमती सबिता बेन मनु भाई, सोनगढ़	५०१/-
श्री झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़	५०१/-
ब्र. ताराबेन-मैनाबेन, सोनगढ़	५०१/-
ढेलाबाई चेरीटेबल ट्रस्ट ह. मोतीलाल जैन, खैरागढ़	५०१/-
सौ.रजनी की स्मृति में ह. कमलेश जिनेश, खैरागढ़	५०१/
सौ. निधि ऋषभजी चौपड़ा ह. कु. कृषा, रायपुर	४०१/-
सौ. कल्पना अनिलकुमार जैन, ह. शुभम् आदित्य, खैरागढ़	४०१/-
सौ. बरखा मनोज कुमार टांटिया ह. अभय आरिका, खैरागढ़	३५१/-
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, ह. मनोज जैन खैरागढ़	३०१/-
श्रीमती श्वेता-वंदना ह. उमेश-महेश, खैरागढ़	२५१/-
श्री निश्चल जैन, ह. श्रीमती सरला जैन, खैरागढ़	२५१/-
सौ. सीमा-ऋषभ कुमार सुराना ह. कु. वीरायंशी, नादगांव	२०१/-
श्रीमती ममता रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ह.श्रीमती पूजा-साकेत शास्त्री	२०१/-

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत् स्वामीजी का सी. डी.व सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, मासिक विधान आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य ५१००१/- में, शिरोमणि संरक्षक सदस्य ३१००१/- में तथा परम संरक्षक सदस्य २१००१/- संरक्षक सदस्य ११००१/- में एवं परम सहायक सदस्य ५००१/- बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा। तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से ३१ तक एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट, अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स) – इसप्रकार ४१ पुष्पों में लगभग ७ लाख ३४ हजार से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित होकर पूरे विश्व में धार्मिक संस्कार सिंचन का कार्य कर रही हैं।

प्रस्तुत संस्करण में पुण्य-पाप के उदयानुसार अनेक उतार-चढ़ाव के बीच जिन्होंने अपना धैर्य नहीं खोया – ऐसे राजा वरांग की विजय-गाथा को बताने वाली प्रेरक कथा को प्रकाशित किया जा रहा है। इसका अनुवाद श्री प्रशम जीतूभाई मोदी सोनगढ़ ने एवं सम्पादन पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम दोनों के भी आभारी हैं।

आशा है इन पौराणिक, सैद्धान्तिक एवं बोधकथाओं से पाठकगण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन
अध्यक्ष

पं. अभय जैन शास्त्री
साहित्य प्रकाशन प्रमुख

पुस्तक प्राप्ति, सहयोग राशि एवं बिल भुगतान शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर ट्रस्ट, खैरागढ़ के नाम से भारतीय स्टेट बैंक, खैरागढ़ खाता क्रमांक 10743382296 IFSC-SBIN0000524 एवं आई डी बी आई खाता क्रमांक 526100100004648 IFSC-IBKL0000526 में जमा कराके, निम्न मो. नं. 9424111488 पर सूचना देकर रसीद प्राप्त कर सकते हैं।

❀ विनम्र आदराञ्जली ❀

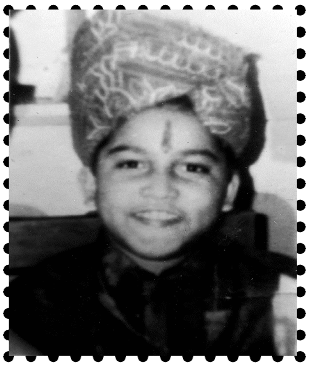

जन्म
१/१२/१९७८
(खैरागढ़, म.प्र.)

स्वर्गवास
२/२/१९९३
(दुर्ग पंचकल्याणक)

स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

अल्पवय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभता, वैरागी, सत्यवादी, दान शीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक ३ भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे – ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे - ऐसी भावना है।

हम हैं

दादा	स्व. श्री कंवरलाल जैन	**दादी**	स्व. मथुराबाई जैन
पिता	श्री मोतीलाल जैन	**माता**	श्रीमती शोभादेवी जैन
बुआ	श्रीमती ढेलाबाई	**फूफा**	स्व. तेजमाल जैन
जीजा	श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन	**जीजी**	सौ. श्रद्धा जैन, विदिशा
जीजा	श्री योगेशकुमार जैन	**जीजी**	सौ. क्षमा जैन, धमतरी

हमारे मार्गदर्शक

श्री दुलीचंद बरडिया राजनाँदगाँव
पिता - स्व. फतेलालजी बरडिया

श्रीमती स्व. सन्तोषबाई बरडिया
पिता - स्व. सिरेमलजी सिरोहिया

सरल स्वभावी बरडिया दम्पत्ति अपने जीवन में वर्षों से सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों से जुड़े हैं। सन् १९९३ में आप लोगों ने ८० साधर्मियों को तीर्थयात्रा कराने का पुण्य अर्जित किया है। इस अवसर पर स्वामी वात्सल्य कराकर और जीवराज खमाकर शेष जीवन धर्मसाधना में बिताने का मन बनाया है।

***विशेष* –** आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के दर्शन और सत्संग का लाभ लिया है।

परिवार

पुत्र	**पुत्रवधु**	**पुत्री**	**दामाद**
ललित	लीला	चन्द्रकला	गौतमचंद बोथरा,
स्व. निर्मल	प्रभा		भिलाई
अनिल	मंजु	शशिकला	अरुणकुमार पालावत,
सुनील	सुधा		जयपुर

ग्रन्थमाला सदस्यों की सूची

परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्रीमती सूरजबेन अमुलखभाई सेठ, मुम्बई
एक मुमुक्षु परिवार दादर ह. जयसुखभाई खाटड़ीया
पारसमल महेन्द्रकुमार जैन, ह. सरिता बेन तेजपुर
श्री निर्मलजी बरडिया स्मृति ह. प्रभा जैन राजनांदगांव

शिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्री हेमल भीमजी भाई शाह, लन्दन
श्री विनोदभाई देवसीभाई कचराभाई शाह, लन्दन
श्री स्वयं शाह ओस्त्रो ह. शीतल विजेन, लन्दन
श्रीमती ज्योत्सना बेन विजयकान्त शाह, अमेरिका
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार, जयपुर
पं. श्री कैलाशचन्द पवनकुमार जैन, अलीगढ़
श्री जयन्तीलाल चिमनलाल शाह ह. सुशीलाबेन अमेरिका
श्रीमती सोनिया समीत भायाणी प्रशांत भायाणी, अमेरिका
श्रीमती ऊषाबेन प्रमोद सी. शाह, शिकागो
श्रीमती कुसुमबेन चन्द्रकान्तभाई शाह, मुलुण्ड

परमसंरक्षक सदस्य

झनकारीबाई खेमराज बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट,खैरागढ़
मीनाबेन सोमचन्द भगवानजी शाह, लन्दन
श्री अभिनन्दनप्रसाद जैन, सहारनपुर
श्रीमती ज्योत्सना महेन्द्र मणीलाल मलाणी, माटुंगा
ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली
श्रीमती पुष्पलता अजितकुमारजी, छिन्दवाड़ा
सौ. सुमन जैन जयकुमारजी जैन डोगरगढ़
स्व. मनहरभाई ह. अभयभाई इन्द्रजीतभाई, मुम्बई
श्री निलय ढेढिया, पार्ला मुम्बई
श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तत्त्वप्रचार समिति, दादर
पीनल बेन प्रकाशभाई संघवी, घाटकोपर
मीताबेन परिवार बोरीबली
श्रीमती समता-अमितकुमार जैन, कानपुर
श्रीमती पुष्पा बेन रायसीभाई गाड़ा, घाटकोपर
धरणीधर हीराचंद दामाणी, सोनगढ़
श्रीमती रीमा-विकाश सेठी अंधेरी ह. बेलाबेन सोनी

संरक्षक सदस्य

श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
श्रीमती लीलादेवी श्री नवरत्नसिंह चौधरी, भिलाई
श्रीयुत प्रशान्त-अक्षय-सुकान्त-केवल, लन्दन
श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह, लन्दन
श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई एवं श्री दिनेशभाई, मोरबी
श्री महेशभाई, बम्बई, प्रकाशभाई मेहता, राजकोट
श्री रमेशभाई नेपाल, श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
स्व.हीराबाई, हस्ते-श्री प्रकाशचंद मालू, रायपुर
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
स्व. मथुराबाई कँवरलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचन्द जैन गिड़िया, खैरागढ़
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
श्रीमती रूपाबैन जयन्तीभाई ब्रोकर, मुम्बई
श्री जम्बूकुमार सोनी, इन्दौर
श्रीमती स्नेहलता ध.प. जैनबहादुरजी जैन, कानपुर
श्रीमती विमलाबाई सुरेशचंद जैन, कोलकाता
स्व. अमराबाई-घेवरचंद ह. नरेन्द्र डाकलिया, नांदगांव
श्रीमती सुशीला बेन सुरेशभाई शाह, अहमदावाद
श्रीमती सुशीलाबाई उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
श्री बाबूलाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
श्री तुषार नलिनकांत देसाई, पालड़ी
श्री ज्योत्सना बेन भूपतभाई शाह, देवलाली
श्री ज्ञानचंद जैन, दिल्ली

परम सहयोगी सदस्य

श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
ब्र. ताराबेन ब्र. मैनाबेन, सोनगढ़
श्रीमती चन्द्रकला गौतमचन्द बोथरा, भिलाई
श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता
श्रीमती ममता-रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर
श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
स्व. लुनकरण, झीपुबाई कोचर, कटंगी
श्रीमती पुष्पाबेन चन्दुलाल मेघाणी, कलकत्ता
स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन ह. शांतिभाई, बम्बई

एक मुमुक्षुभाई, ह. सुकमाल जैन, दिल्ली
स्व. रामलाल पारख, ह. नथमल नांदगांव
श्रीमती जैनाबाई, भिलाई ह. कैलाशचन्द शाह
सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी, उज्जैन
श्रीमती पतासीबाई तिलोकचंद कोठारी, जालबांधा
श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
स्व. भैरोदान संतोषचन्द कोचर, कटंगी
श्री तखतराज कांतिलाल जैन, कलकत्ता
श्रीमती सुधा सुबोधकुमार सिंघई, सिवनी
गुप्तदान, हस्ते – चन्द्रकला बोथरा, भिलाई
सौ. कमलाबाई कन्हैयालाल डाकलिया, खैरागढ़
श्री सुगालचंद विरधीचंद चोपड़ा, जबलपुर
श्रीमती सुनीतादेवी कोमलचन्द कोठारी, खैरागढ़
श्रीमती स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़
श्री शान्तिकुमार कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा
श्री छीतरमल बाकलीवाल, जैन ट्रेडर्स, पीसांगन
श्री किसनलाल देवड़िया ह. जयकुमारजी, नागपुर
श्री सुदीपकुमार गुलाबचन्द, नागपुर
सौ. शीलाबाई मुलामचन्दजी, नागपुर
सौ. मोतीदेवी मोतीलाल फलेजिया, अहमदाबाद
समकित महिला मंडल, डोंगरगढ़
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, सागर
सौ. शांतिदेवी धनकुमार जैन, सूरत
श्री चिन्द्रूप शाह, ह. श्री दिलीपभाई बम्बई
स्व. फेफाबाई पुसालालजी, बैंगलोर
ललितकुमार डॉ. श्री तेजकुमार गंगवाल, इन्दौर
स्व. नोकचन्दजी, ह. केशरीचंद सावा सिल्हाटी
कु. वंदना पन्नालालजी जैन, झाबुआ
कु. मीना राजकुमार जैन, धार
सौ. वंदना संदीप जैनी ह.कु. श्रेया जैनी, नागपुर
सौ. केशरबाई ध.प. स्व. गुलाबचन्द जैन, नागपुर
जयवंती बेन किशोरकुमार जैन
श्री मनोज शान्तिलाल जैन
श्रीमती शकुन्तला अनिलकुमार जैन, मुंगावली
इंजी.आरती पिता श्री अनिलकुमार जैन, मुंगावली
श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
श्रीमती माणिकबाई माणिकचन्द जैन, इन्दौर
श्रीमती भूरीबाई स्व. फूलचन्द जैन, जबलपुर
श्री किशोरकुमार राजमल जैन, सोनगढ़
श्री जयपाल जैन, दिल्ली
श्री चेतना महिला मण्डल, खैरागढ़
श्रीमती किरण – एस.के. जैन, खैरागढ़
स्व.गैंदामल ज्ञानचन्द सुमतप्रसाद अनिल जैन, खैरागढ़
स्व. मुकेश गिड़िया स्मृति ह. सरला जैन, खैरागढ़
सौ. सुषमा जिनेन्द्रकुमार, खैरागढ़
श्रीमती श्रुति-अभयकुमार शास्त्री, खैरागढ़
सौ. अचरजकुमारी श्री निहालचन्द जैन, जयपुर
सौ. शोभाबाई भवरीलाल चौधरी, यवतमाल
सौ. ज्योति सन्तोषकुमार जैन, डोभी
श्री कस्तूरी बाई बल्लभदास जैन, जबलपुर
स्व.यशवंत छाजेड़ ह.श्री पन्नालाल छाजेड़, खैरागढ़
श्री आयुष्य जैन संजय जैन, दिल्ली
श्री सम्यक अरुण जैन, दिल्ली
श्री सार्थक अरुण जैन, दिल्ली
श्री केशरीमल नीरज पाटनी, ग्वालियर
श्री परागभाई हरिवदन सत्यपंथी, अहमदाबाद
श्रीमती नम्रता-प्रशम मोदी, सोनगढ़
श्री हेमलाल मनोहरलाल सिंघई, बोनकट्टा
स्व. दुर्गा देवी स्मृति ह. दीपचन्द चौपड़ा, खैरागढ़
शाह श्री कैलाशचन्दजी मोतीलालजी, भिलाई
श्रीमती प्रेक्षादेवी प्रवीणकुमारजी शास्त्री, रायपुर
लक्ष्मीबेन वीरचन्द शाह ह. शारदाबेन, सोनगढ़
श्रीमती चेतनाबेन पारुलभाई भायाणी, मद्रास
श्रीमती स्वाति-आशीष जैन, नवसारी
श्रीमती वर्षाबेन-निरंजनभाई, सुरेन्द्रनगर
श्रीमती रूवी-राजकुमार जैन, दुर्ग
श्रीमती विजया विजयकुमार जैन, विलासपुर
स्व. धरमचंद संचेती ह. किशोरकुमार संचेती, कटंगी
श्रीमती नेहाबेन-जितेन्द्र भाई गोगरी, माटुंगा
श्रीमती लक्ष्मीबेन शशांकभाई शाह, माटुंगा
श्री जयकुमार जैन, शिवपुरी
श्रीमती सुशीला बेन जयन्ती लाल गाला, माटुंगा
लक्ष्मी बेन, ब्र. कुन्ती बेन, सोनगढ़
कु. आरोही, श्रीमती परींदा-राहुल पारिख, न्यूजीलेण्ड
कु. श्रेया श्रीमती मीता-दीपक पारिख, मुम्बई

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

आचार्य श्री जटासिंहनंदि विरचित

वरांग-चरित्र

इस विश्व में विनीत नामक एक देश था। वह अपने भोग-उपभोग की संपत्ति के कारण देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि के समान लगता था। उस देश में बड़े-बड़े ज्ञानी और उदार पुरुष निवास करते थे।

इस विनीत देश में सौम्याचल नामक एक पर्वत है। जिसके बड़े-बड़े शिखर मानों हिमालय पर्वत की बराबरी ही कर रहे हों। ऐसे उस सौम्याचल पर्वत में से विश्वप्रसिद्ध रम्या नामक नदी बहती है। इस रम्या नदी के दक्षिण तट पर एक विशाल समतल भूमिखंड है। इसी समतल भूमिखंड पर विश्वप्रसिद्ध रम्यातट नामक नगर बसा था। रम्या नदी के तट पर यह नगर बसने से ही इसका नाम रम्या तट प्रसिद्ध हुआ था। फिर भी इस नगर की समृद्धि और विशेषताओं को देखकर बुद्धिमान पुरुषों ने उसका दूसरा नाम उत्तमपुर रखा था। इस नगर के दूसरे भी अनेक नाम उसके गुणों के कारण विख्यात थे।

इस उत्तमपुर के महाराज धर्मसेन विश्व में प्रसिद्ध थे। वह विश्वप्रसिद्ध भोजवंश में उत्पन्न हुए थे। वे धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ का मर्यादापूर्वक पालन करने और कराने में कुशल थे। प्रजा का न्यायपूर्वक लालन-पालन हो यह विचार हमेशा उनके

मन में चला करता था। उन्हें गुरुजनों की वैयावृत्ति करने की विशेष रुचि थी। प्रमाद, अहंकार, मोह और द्वेष जैसे अवगुण उनके पास आते ही नहीं थे। उन्हें सज्जनों की संगति और अच्छी वस्तुओं का संग्रह करने का भी विशेष शोंक था। वे मधुरभाषी होने के साथ-साथ निर्लोभी भी थे। साहसिकता और कार्यकुशलता उनके रोम-रोम में समाई हुई थी। अपने बंधुजनों के परम हितैषी थे।

महाराजा धर्मसेन के अंत:पुर में तीनसौ रानियाँ थीं। वे सब रानियाँ स्त्रियोचित लज्जा की मूर्ति थीं, विनम्रता और कुलीनता उनके रोम-रोम में समाई थी। वे सब रानियाँ पति को अत्यंत प्रिय थीं और वे सब भी पति को बहुत प्रेम करती थीं। सभी रानियों में गुणवती नामकी रानी विशेष थी।

प्रजापालक महाराज धर्मसेन के सभी मनोरथ पुण्य प्रताप से पूर्ण हो जाते थे। उनकी प्राणप्रिया श्रेष्ठ रानी गुणवती से वरांग नामक पुत्र का जन्म हुआ। कुमार वरांग के जन्म से माता-पिता के आनंद का पार नहीं रहा। राजपुत्र वरांग के शरीर पर अनेक शुभ लक्षण स्पष्टरूप से दिखते थे। किशोरवय से ही वरांग प्रतिदिन सच्चे देव की पूजा और मन-वचन-काय से गुरु का विनय करता था। कुमार वरांग लेखनी, व्याकरण, काव्य, संगीत आदि समस्त कलाओं में पारंगत था। वह सदा हाथी, घोडों की सवारी और शस्त्रविद्या के अभ्यास करने में लीन रहता था। छल, कपट, प्रमाद, अहंकार, लोभ आदि दुर्गुण उसमें लेश भी नहीं थे। तदुपरांत शिकार, जुआ, वैश्यागमन आदि सातों व्यसनों ने उसमें प्रवेश ही नहीं किया था।

राजपुत्र वरांग के उदार गुणों का विचार करके तथा उसके सुंदर शरीर और यौवन को देखकर माता-पिता ने सोचा कि क्या कोई राजकन्या वरांग के समान सुंदर तथा शरीर से स्वस्थ होगी? जिस समय राजा-रानी उक्त विचार में मग्न थे, उसी समय मानों

कि वरांग के गुणों से प्रेरित होकर नगर का कोई सेठ राजमहल में आ पहुँचा। राजकुमार को देखते ही सेठ का स्नेह उमड़ पड़ा।

सेठ ने महाराज को प्रणाम करके कहा कि महाराज! समृद्धपुरी के एकछत्र राजा धृतिसेन अपरिमित वैभव और संपत्ति के अधिपति हैं। तदुपरांत जहाँ तक कुलीनता, स्वभाव, संयम, तेज, पराक्रम, बुद्धि, विद्या, धर्म, कर्तव्यपालन, न्याय और नीति का सम्बन्ध है, वे सभी प्रकार में आपके समान ही हैं। महाराज धृतिसेन की अतुला नामक पट्टरानी है। उन दोनों के सुनंदा नामक राजकन्या है जो कि कांति, कीर्ति, दया आदि सद्गुणों का भंडार होने पर भी अत्यंत विनम्र और शिष्ट है। ऐसा लगता है कि मानों वह देवकन्या ही पृथ्वी पर आ गई हो।

सेठ के अत्यंत अर्थपूर्ण गंभीर और मनोहर वचन सुनकर महाराज ने उसका यथायोग्य सन्मान करके विदा किया। सेठ को विदा करके राजा अपने मंत्रशाला में गये। महाराज के बुलाने से अनंतसेन, चित्रसेन, अजितसेन और देवसेन नामक प्रधान पंडित मंत्रीगण मंत्रशाला में पहुंच गये। उन सबकी कुशलता पूछकर महाराज ने गंभीरता से कहा कि-

हे मंत्रीवर! राजकुमार वरांग सर्व विद्याओं में, व्यायाम, नीतिशास्त्र में पारंगत है, गुरुजन और वृद्धजनों की वैयावृत्ति में बहुत प्रेम रखता है। वह कितना बुद्धिमान और पुरुषार्थी है इससे आप लोग भलीभांति परिचित हो। उसका साहस, वीरता, सेवा-परायणता, सहानुभूति आदि सद्गुण तो ऐसे हैं कि उसे समस्त पृथ्वी का एकछत्र राजा होना चाहिये। अंग-अंग में से अंकुरित सौंदर्य का विचार करने पर ऐसा लगता है कि मानों दूसरा कामदेव ही हो। इसलिए अब हमें उसके विवाह हेतु विचार करना चाहिए।

मंत्रीगण स्वयं भी राजपुत्र वरांग को पुत्र के समान चाहते थे तथा आदरपूर्ण व्यवहार करते थे। महाराज के प्रस्ताव के अनुरूप

सबने अलग-अलग रूप से अपने-अपने मंतव्य व्यक्त किये। सब मंत्रियों की बात सुनने के बाद राजा ने, उनको मिलने आये हुए सेठ की बात कही। राजा की बात सुनकर सबने एकमत होकर महाराज धृतिसेन के नगर की ओर कुमार वरांग सहित प्रयाण किया।

महाराज धर्मसेन के चारों प्रधान मंत्रियों ने महाराज धृतिसेन के पास कुमार वरांग के साथ उनकी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव रखा। महाराज धृतिसेन ने मंत्रियों के वचनों पर विचार कर तथा अपनी पुत्री की युवावस्था देखकर मंत्रियों से कहा कि जैसा आप चाहते हो वैसा ही होगा, उसके बाद तुरंत ही विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दी। सभी धार्मिक और सामाजिक विधि-विधानों के विशेषज्ञ राजा ने घर की सभी रीतियाँ एवं संस्कारों को पूरा करके निर्धन और दु:खी लोगों को किमिच्छिक दान दिया। तदनन्तर अतुल संपत्ति और ठाट-बाट के साथ राजकुमारी को पालकी में बिठाकर महाराज धृतिसेन ने उत्तमपुर की ओर प्रयाण किया।

चंद्र समान सर्वप्रिय तथा प्रजा के हितैषी अन्य बड़े-बड़े राजाओं ने भी कुमार वरांग के पुण्य प्रभाव से प्रेरित होकर अपनी-अपनी अत्यंत गुणवती तथा सुंदर कन्याओं को लेकर उत्तमपुर की ओर प्रस्थान किया। आठों दिशाओं से अनुक्रम से पुष्पमती, यशोवती, वसुंधरा, अनंगसेना, प्रियपताका, सुकेशिका, विश्वसेना तथा प्रियकारिणी उत्तमपुर जा रही थीं। धनदत्त नगरसेठ भी अपनी पुत्री को लेकर आये थे। सब राजकन्याएँ स्वास्थ्य, सदाचार, शिक्षा आदि गुणों में सब प्रकार से महाराज धृतिसेन की राजपुत्री सुनंदा के समान ही थीं तथा उसके समान ही उनका चरित्र भी उज्ज्वल और उदात्त था।

महाराज धर्मसेन ने इसी अवसर पर कुमार वरांग का युवराज पद के लिए अभिषेक करने का निर्णय किया था। अत: उनकी

आज्ञा से राजभवन के विशाल प्रांगण में 'कामकरंडक' नामक श्रीमंडप अत्यंत कलापूर्वक बनाया गया था। कुमार वरांग स्वभाव से ही इतने सुंदर थे कि कोई भी व्यक्ति रूप और कांति में उनकी समानता करने में असफल था। फिर भी अभिषेक, विवाह आदि मांगलिक कार्यों के कारण उस समय उनको लेप लगाया था कि जिससे उनका संपूर्ण शरीर सौंदर्य से दैदीप्यमान हो रहा था।

तदनन्तर उनको मंगल विधि के लिए सिंहासन पर बिठाया गया और उनका अभिषेक किया गया तथा उत्तम मुहूर्त में दसों कन्याओं का वरांग कुमार के साथ पाणिग्रहण कराया गया। विवाह बाद, जैसे देवताओं के अधिपति इन्द्र जाज्वलयमान महामणिओं की ज्योति से प्रकाशमान सुमेरु पर आकाशचारिणी अप्सराओं के साथ रमण करते हैं उसी प्रकार पृथ्वी के इन्द्र महाराज धर्मसेन के पुत्र वरांग कुमार अपनी प्राणप्यारिओं के साथ उत्तम उद्यानों एवं केलिवन में रतिविहार करते थे।

एक दिन भगवान श्री नेमिनाथ के प्रधान गणधर वरदत्त स्वामी केवलज्ञान प्राप्त कर उत्तमपुर नगर के मनोहर नामक उद्यान में पधारे। उद्यान में उनका आगमन होने से माली का चित्त उनको देखकर गद्‌गद्‌ हो उठा। तुरंत ही वह महाराज को समाचार देने गया। माली के द्वारा भगवान के आगमन के समाचार सुनते ही धर्मसेन राजा ने नगर में घोषणा करा दी एवं स्वयं समस्त परिवार के साथ वरदत्त केवली की प्रदक्षिणा करके उनके चरणों में नमन किया। नमस्कार करने के बाद हाथ जोड़कर विनय से धर्मसेन महाराजा ने कहा कि हे प्रभु! मुझे धर्मरूपी अमृत का पान कराईये।

मनुष्यों के अधिपति श्री धर्मसेन द्वारा उक्त रीति से पूछने पर, संसार दुःखों से तप्त जीवों के कल्याणमार्ग का उपदेश, ऋषिओं के राजा श्री वरदत्त केवली की दिव्यध्वनि में आया कि-

"जो भव्यजीव जैनधर्मरूपी जल मत्सर आदि दोष रहित

सद्‌बुद्धिरूपी पात्र में आदर सहित भर लेते हैं और अत्यंत श्रद्धा से उसका पान करते हैं अर्थात् समझते हैं वे जन्म-मरणरूप संसार समुद्र को सरलता से पार करके मुक्त हो जाते हैं, इसलिए जो जीव अपने उद्धार के लिए व्याकुल हैं उन सबको धार्मिक चर्चाओं का श्रवण और मनन करने में अपनी रुचि को प्रयत्नपूर्वक लगाना चाहिये; क्योंकि धर्म के तत्त्वों का सतत अनुशीलन (अध्ययन) करके ही यह जीव जन्म, जरा, मरण आदि समस्त सांसारिक उत्पातों को जीतकर तीनों लोक के लिये वंदनीय बनते हैं।

समस्त प्रकार के भयों के भंडार इस संसार में अज्ञान से बड़ा और कोई भय नहीं है। अज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई अभेद्य अंधकार इस पृथ्वी पर नहीं है। जीव के सभी शत्रुओं का यह महाराजा हैं। कोई भी निमित्त अनेकों प्रयत्न करके भी अज्ञान से अधिक दुःख नहीं दे सकता। महावत के अंकुश का संकेत न माननेवाला मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राण के ग्राहक शत्रुओं की सेना में घुसकर अपने ऊपर बैठे हुए योद्धा के साथ व्यर्थ ही प्राण गँवाता है, उसीप्रकार ज्ञानरूपी अंकुश से रहित चित्तवाला जीव व्यर्थ में ही जन्म-मरण के दुःख उठाता है।

जंगल में चारों ओर से लगी हुई दावाग्नि से बचकर निकलने का प्रयत्न करता हुआ अंध पुरुष जैसे फिर से वापस उस अग्नि में जा गिरता है उसीप्रकार आँखों पर अज्ञानरूपी कालिमा का बड़ा पर्दा होने से यह जीव भी दुःख-ज्वालाओं में जा गिरता है।

संसार में अत्यंत प्रचलित इन सब दृष्टांतों को अपनी बुद्धिरूपी आँख से भलीभांति जाँचकर सत्य श्रद्धा से युक्त सम्यग्ज्ञानी पुरुषार्थी जीव दुर्द्धर तप किये बिना ही–साधारण तप करके ही अपने अंतिम लक्ष्य क्षायिक सुखों के सागर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। संसार में जिन जीवों का पुण्य क्षीण हो जाता है उनके ऊपर कुमति

का एकाधिकार हो जाता है और उनको मिथ्यात्व का ही उपदेश रुचिकर लगता है कि जिससे वे धर्माचरण और उत्तम भावनाओं के रहस्य को नहीं समझ सकते। परिणाम स्वरूप बार-बार जन्म-मरण के कूप में गिरकर अनंतकाल तक दुःख भोगते हैं। इसलिए जिन जीवों की सद्‌बुद्धि नष्ट नहीं हुई ऐसे जीव धर्म में सर्वश्रेष्ठ ऐसे सत्य जैन धर्म का आश्रय करें, जो तीन लोक में सुख के सारभूत ऐसे मोक्षसुख की प्राप्ति कराता हैं वे दुराचार पूर्ण ऐसे लौकिक मार्ग को छोड़ दें कि जिसमें सत्य का नाम भी नहीं है।

जो जीव प्रतिसमय दूसरों की द्रव्य या भावहिंसा में लगे रहते हैं, जिनको असत्य वचन बोलने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती, दूसरों का धन चुराना जिनकी आजीविका बन गई है, दूसरों की स्त्रियों का सतीत्व भंग करना ही जिनका स्वभाव हो गया है, विपरीत श्रद्धा जिनके विवेक को आच्छादित कर देती है, अति अधिक आरंभ और परिग्रह जिनका व्यापार हो गया है और जिनके विचार और चेष्टा अत्यंत कलुषित हो गये हैं ऐसे जीव नरकगति में गिरकर लम्बे समय तक दुःख का अनुभव करते हैं। स्पर्शन, रसना आदि पंचेन्द्रियों के पाँच विषयों को प्राप्त करने के लिये जो लोग निर्दय और नीच प्रवृत्ति करते हैं, वे लोग अपने दुष्कर्म और अधर्म के बोझ से दबकर धड़ाम से नरक में गिरते हैं।

जो लोग इस संसार में दूसरों की पत्नियों से या अन्य स्त्रियों से संगम करने के लिये अधीर रहते हैं वे मरकर जब नरक में पहुँचते हैं तब वहाँ उपस्थित अन्य नारकी तुरन्त ही उसके ऊपर विषमिश्रित लेप लगाते हैं जिससे उसका समस्त शरीर जलने लगता हैं। दूसरों की स्त्रियों का साथ कामक्रिया करनेवालों को अथवा पर स्त्री के साथ संभोग करनेवालों को नारकी जीव कृत्रिम स्त्री बनाकर जबरदस्ती उसके साथ आलिंगन कराते हैं, जिससे उसका समस्त शरीर जलने लगता है। इस तरह अति-अति दुःख सहन करने पड़ते हैं।

जो जीव सांसारिक संपत्ति और भोग-उपभोग की सामग्री को प्राप्त करने के लिए सभी कुकर्म अत्यंत चाव से और तत्परता से करते हैं, वे जन्म-जन्मांतर में प्राप्त होनेवाले दुःखों का पार नहीं पाते और लंबे समय तक नरक में ही सड़ते हैं। जो पुरुष इस भव में मन द्वारा संसार की समस्त विभूति तथा भोगोपभोग सामग्री के विषय में विचार करता रहता है और मानसिक परिग्रह बढ़ाता है वह मानसिक-कल्पना का चक्रवर्ती सीधा नरक में जाता है यह बड़े दुःख की बात है।

पतंगा, भ्रमर, हिरन, मीन और मत्त हाथी एक-एक इन्द्रिय के विषय में अत्यंत लम्पट – अनुराग रखनेवाले होते हैं फिर भी परिणाम यह आता हैं कि वह अपने परमप्रिय विषय को बिना पाये ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तब फिर पांचों इन्द्रियों के विषय में आसक्त होने से जीव का समूल नाश हो जाय तो उसमें कौन सी अतिशयोक्ति है।

इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का भोग करने से जो सुख प्राप्त होता है वह सुख गुड लगी हुई तलवार को चाटने के बराबर है। दस प्रकार के कल्पवृक्षों के कारण भोगभूमि में जो एकान्तिक सुख प्राप्त होता है वह सुख भी विषमिश्रित मीठे पकवान के भोजन समान है। फिर भी अनादिकाल से बंधे हुए आठ कर्मों के बंधन को खंड-खंड करने के कारण तीन लोक के चूडामणि के समान उन्नत स्थान पर जाकर विराजमान जीवों के अतीन्द्रिय सुख की, हे राजन्! कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती, वह सुख अनुपम है।"

वरदत्त केवली के वचन सुनते ही कुमार वरांग के मिथ्यात्व का नाश हुआ और सातों तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा हो गई। उसने हाथ जोड़कर भगवान से कहा कि "हे प्रभु! मैं उग्र तपस्या में अड़िग रह सकूँ उतनी शक्ति मेरे में नहीं है, इसलिए मुझे अणुव्रत

देने का अनुग्रह करो। आपकी असीम अनुकंपा से मेरी अंतरंगदृष्टि खुल गई है इसलिए कुमत और जीवन के पापमय मार्ग से मुझे पूर्णरूप से घृणा हो गई है। आज मुझे ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई है कि जिसे मनुष्य तो क्या देव भी दूषित नहीं कर सकते। इसलिए मैं अपनी शक्ति अनुसार व्रत अंगीकार करता हूँ। हे प्रभो! मर्यादा की रक्षा के लिए किये जानेवाले युद्ध की हिंसा को छोड़कर दूसरे सब प्राणियों पर मेरे दयाभाव हो। हे प्रभु! दूसरों की हिंसा, असत्य या कटुवचन, दूसरों की संपत्ति का हरण, निष्प्रयोजन परिग्रह का संचय तथा दूसरों की पत्नी को ग्रहण तथा उनके साथ रतिसुख का मैं आजीवन त्याग करता हूँ।"

कुमार वरांग भव्य तो थे ही इसलिए वे अपने को धर्ममार्ग में लगा सके। अंधे को जैसे आँख मिल जाय या भिखारी को खजाना मिल जाय तो जैसा आनंद होता है, वैसा ही आनंद कुमार वरांग को यह अणुव्रत ग्रहण करने से हुआ था; क्योंकि उन्होंने आज तक ऐसे सुख की कल्पना भी नहीं की थी अर्थात् ऐसा सुख जाना ही नहीं था। व्रतरूपी रत्नों को प्राप्त करने के बाद केवली भगवान को साष्टांग प्रणाम किया और दूसरे मुनिराजों की भी प्रदक्षिणा-वंदना की। तदनन्तर कुमार वरांग ने अपने महल की ओर प्रयाण किया।

इस प्रसंग के बाद युवराज वरांग के जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। वे सुबह जल्दी उठकर सूर्योदय से पहले स्नान आदि मंगल कार्य करके अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा करने लगे। तदनन्तर गुरुओं और साधुओं का यथायोग्य विनय करके स्वाध्याय करने के लिए स्वाध्यायशाला में चले जाते थे। वहाँ जाकर के शास्त्र-स्वाध्याय, चिंतन, मनन, चर्चा आदि किया करते थे। अब उनका जीवन बदल गया था। उनका मन शास्त्र के गूढ़ तत्त्व को समझने में ही लगा रहता था। महाराज धर्मसेन राजसभा में जब

लोगों द्वारा कुमार वरांग के सेवापरायणता, न्यायनिपुणता आदि उदात्त गुणों की प्रशंसा सुनते थे तब उनका मन प्रसन्नता से नाच उठता था। महाराज अपने पुत्र के सुकर्म को देखकर दिन-प्रतिदिन उसके ऊपर और ज्यादा अनुरक्त हुए थे। उनके मन का अभिप्राय जानकर उनके चारों प्रधान मंत्रियों ने राजा के पास जाकर युवराज वरांग के राज्याभिषेक का प्रस्ताव रखा तथा महाराज के सभी पुत्रों में युवराज वरांग ही इस राज्य को संभालने में योग्य हैं ऐसा भी कहा। प्रधान मंत्रियों का विचार सुनकर राजा ने सहर्ष उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर राज्याभिषेक करने के लिए तैयारी करने की आज्ञा दे दी।

कुमार के राज्याभिषेक के निमित्त से समस्त नगर को सजाया गया। मांगलिक दिन आया तब राजा ने कुमार वरांग को अत्यंत शोभायमान सिंहासन पर पूर्वदिशा की ओर मुख करके बिठाया और मस्तकाभिषेक किया तथा अपने समस्त राज्य का और समस्त संपत्ति का अधिकार राजा वरांग को सौंपकर स्वयं निश्चिंत हुये। कुमार के राज्याभिषेक से समस्त राज्य आनन्दित था। केवल उनके भाई जिनको कि राज्य नहीं मिला वह सब दुःखी हुए और युद्ध करने के लिए तैयार हो गये और कुत्सित वचन बोलने लगे तब प्रधान मंत्रियों ने उन लोगों को बहुत समझा-बुझा कर शांत किया।

संसार का यह सर्वविदित नियम है कि विशेष पुण्याधिकारी पुरुषों की सेवा और भक्ति उन लोगों को करनी चाहिए जिन लोगों ने पूर्व में पुण्यकर्म नहीं किया।

राजा वरांग का पुण्य विशाल था। उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में दूर-दूर तक फैली हुई थी। महाराज धर्मसेन की पट्टरानी गुणदेवी अंतःपुर की सौंदर्यगुणों की खान अन्य रानियों के साथ विराजमान थी कि ठीक उसी समय राजा द्वारा भेजे हुए किसी सेवक ने महारानी को उनके पुत्र वरांग के राज्याभिषेक की सूचना दी। पुत्र को

राज्यप्राप्ति के समाचार सुनते ही माता आनन्दविभोर हो गई। जो व्यक्ति समाचार लेकर आया था उसका महारानी ने वस्त्राभूषण द्वारा सन्मान किया। महाराज की दूसरी रानियाँ भी इस समाचार को सुनकर प्रसन्न हुई।

इन सब रानियों में मृगसेना नामक रानी राजा को अत्यंत प्रिय थी। यह समाचार सुनकर क्रोध से इतनी व्याकुल हो गई कि उसने अपना मुख नीचा कर लिया और वहाँ से खड़ी होकर अपने महल में चली गई और वहाँ बहुत रुदन किया उसने सोचा कि संसार में ऐसा नियम है कि जो ज्येष्ठ पुत्र सुयोग्य हो तो राज्य उसे मिलता है लेकिन ऐसा कैसे हो गया कि ज्येष्ठ पुत्र सुयोग्य होने पर भी दूसरे पुत्र को राज्य क्यों दिया? मृगसेना ने अपने पुत्र को एकांत में बुलाया और कहा कि हे पुत्र! वरांग को राज्य मिल रहा है उसकी खबर तुझे पहले ही मिलनी चाहिये थी और अगर तुझे यह बात पता थी और तू अपनी शक्ति कम समझकर चुप रहा तो तेरे पुरुषार्थ और पुरुषत्व दोनों को धिक्कार है। जीवन के मोह में पड़कर जो व्यक्ति हीनपुरुष के समान आचरण करने लगता है, शक्ति नहीं होने से जो पुरुष पराक्रम करना छोड़ देता है तथा जिसका बल और पराक्रम दूसरे लोग नष्ट कर देते हैं, उस मनुष्य का इस पृथ्वी पर जन्म लेने से क्या फायदा? मैं जब-जब गुणदेवी के सौभाग्य का चिंतवन करती हूँ और उसके पुत्र की उत्कृष्ट विभूति और वैभव का चिंतवन करती हूँ, तब-तब क्रोध की अधिकता से मेरा सर फटने लगता है और अब तो इन प्राणों को मैं थोड़ी देर भी नहीं सम्हाल सकूँगी।

माता द्वारा उक्त रीत से लांछित होने पर सुषेण ने कहा कि हे माता! मुझे इस बात का पता ही नहीं था ऐसा नहीं और कम शक्ति होने के कारण मैं चुप रहा हूँ ऐसा भी नहीं है। यह सब मेरे पिता का ही किया है यह जानने पर भी मैं तो उसी

समय युद्ध करने तैयार हो गया था तथा कितने और कुमारों ने भी मेरा साथ दिया था, लेकिन मुझे उस वृद्ध मंत्री ने रोक रखा था। अपने पुत्र की बात सुनकर रानी मृगसेना ने अपने विश्वस्त मंत्री को बुलाया। पहले तो मंत्री का बहुत आदर-सत्कार किया फिर साहसपूर्वक कहा कि मेरे माता-पिता ने आपको यहाँ हमारी सेवा के लिये भेजा था और समय आने पर आपने ऐसी ही सहायता की है, लेकिन जिस वृक्ष को आपने इतनी चिंता और मेहनत से बड़ा किया है उस वृक्ष को ही अब क्यों काट रहे हो? यदि हम आपकी दृष्टि में शुद्ध हैं, यदि हमारे कुटुम्बीजन और मित्रों ने आपके ऊपर कभी भी कोई भी उपकार किया हो तो आप इस वरांग की जगह सुषेण को राज्य सिंहासन पर बिठा दो।

मंत्री की बुद्धि प्रखर तथा सत्पथगामिनी होने से रानी के नीति और न्याय से प्रतिकूल ही नहीं अपितु सर्वथा युक्तिहीन वचन सुनकर भी उसके मन में किसी भी प्रकार के पक्षपात की भावना जाग्रत हुई नहीं। वह अत्यंत दूरदर्शी था इसलिए रानी के वचनों पर बहुत देर तक मन में ही चिंतवन करते रहने के बाद उसने कहा कि जो व्यक्ति पुण्यात्मा का नाश करना चाहता है वह सबसे पहले अत्यंत शीघ्रता से स्वयं इस संसार में से निःशेष हो जाता है। जिस व्यक्ति के भाग्य से लक्ष्मी चली गई है उसे प्रयत्न करके भी उच्च पद पर नहीं बिठाया जा सकता। वैसे ही जिसकी लक्ष्मी पुण्य और पुरुषार्थ के कारण बढ़ रही है उसकी प्रतिष्ठा तथा पद का नाश करना संभव नहीं। जिसके पल्ले में बुद्धि नहीं उसके द्वारा चिंतवन की हुई योजना निश्चय से विनाश को प्राप्त होती है। इसलिए हम सबका हित और कल्याण इसी में है कि हम राजा वरांग की शरण में रहकर अपना जीवन शांति से व्यतीत करें।

मंत्री द्वारा इतना-इतना समझाने पर भी रानी ने अपनी हठ छोड़ी नहीं और मंत्री को अकार्य करने के लिये मजबूर किया।

मंत्री ने रानी के पिता के साथ के अपने संबंध का विचार करके रानी को कहा कि यदि सुषेण के पुण्य बाकी होगा तो राज - सिंहासन पर वह जरूर बैठेगा। मैं आज से ही प्रयत्न चालू कर देता हूँ। उसके बाद बहुत देर तक मंत्री ने रानी मृगसेना और सुषेण के साथ एकांत में मंत्रणा की।

अब मंत्री की एक ही अभिलाषा थी कि कुमार सुषेण राज-सिंहासन पर बैठे और वरांग के राज्य का अधिकारी शीघ्रातिशीघ्र सुषेण हो जाय। इसलिये अब उठते, बैठते, चलते, सोते आदि सब अवस्था में वरांग के राज्य के दुर्बल और दूषित अंगों को मंत्री स्वयं शोधने में अपना समय व्यतीत करने लगा।

इसप्रकार बहुत समय बाद मृगति के एकछत्र अधिपति ने युवा राजा वरांग के लिए दो श्रेष्ठ घोड़े भेजे। उन दोनों की जाति और अवयव उन्नत तथा शुभ थे। उनकी अवस्था भी उस समय भी किशोर थी। दोनों के रूप अत्यंत आकर्षक थे। घोड़े में जितने भी शुभ लक्षण होने चाहिए उन सबकी तो वे निवासभूमि ही थे। जब राजा ने इन दोनों किशोर घोड़ों को देखा तब वे अचानक बोल उठे कि इन दोनों किशोर घोड़ों को अच्छी तरह कौन शिक्षित कर सकेगा? राजा के इन शब्दों को सुनकर वृद्ध मंत्री को अपना षडयंत्र रचने का अवसर मिल गया, उसने खड़े होकर कहा कि मैं इन किशोर घोड़ों को शिक्षित करने के लिए तैयार हूँ। मंत्री के ऐसे उत्सुकतापूर्ण वचन सुनकर राजा ने उसे दोनों ही किशोर घोड़े सुशिक्षित करने सौंप दिये, क्योंकि सब जानते थे कि इस मंत्री से ज्यादा सर्व शास्त्रों में पारंगत और कोई नहीं है।

मंत्री ने विधिपूर्वक चार माह तक दोनों घोड़ों को पालतू बनाकर शिक्षित किया। एक घोड़े को शुभ गति आदि न्याय युक्त शिक्षा देकर सर्वथा उपयोगी बनाया था और दूसरे घोड़े को छल-कपट करने का अभ्यास कराकर भयावह बना दिया था। दोनों

घोड़ों को शिक्षित करने के बाद मंत्री एक दिन घोड़ों को लेकर राजा के सामने उपस्थित हो गया। नगर के बाहर एक वृत्ताकार विशाल क्रीड़ाक्षेत्र था वहाँ राजा और प्रजा नये घोड़ों का कौशल देखने के लिये एकत्रित हुए थे। सबके सामने मंत्री वहाँ सुशिक्षित घोड़े पर सवार होकर अलग-अलग चाल चलाता। उसको देखते ही युवक राजा का चित्त उन घोड़ों पर मुग्ध हो गया। राजा वरांग घोड़ों की चाल आदि क्रियाओं में इतने निपुण थे कि उस विषय में दूसरा कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। राजा वरांग घोड़े की शिक्षा से परम संतुष्ट हुए। ऐसा जानकर मंत्री ने कहा कि हे महाराज! यह दूसरा घोड़ा पहले घोड़े से भी अधिक शिक्षित है और वह आपके सवार होने योग्य ही है। ऐसा कहकर वृद्ध मंत्री ने उस कुशिक्षित घोड़े को युवा राजा वरांग के समीप लाकर उपस्थित कर दिया।

भवितव्य ही ऐसा था अतः घोड़े पर आरूढ होने की तीव्र अभिरुचि के कारण अथवा यौवन में सुलभ आत्मगौरव की भावना के कारण युवा राजा वरांग ने उस कुशिक्षित घोड़े की परीक्षा करना आवश्यक न समझा और वे तुरंत ही सवारी के लिये अनुपयुक्त वेषभूषा में ही उस घोड़े पर विधिपूर्वक चढ़ गये और आश्चर्य की बात है कि तुरंत ही तेजी से चलाना शुरू कर दिया। घोड़े को तो कुशिक्षा देने में आयी होने से उसको रोकने के लिये ज्यों-ज्यों घोड़े की लगाम खींची, त्यों-त्यों वह क्रोधित होकर उद्दंड होता गया और उसके ऊपर नियंत्रण रखना भी असंभव होने लगा। थोड़ी ही देर में उस घोड़े की गति पवन समान हो गई और वह धनुष से छूटे हुए बाण के समान बहुत दूर निकल गया। मंत्री की कुशिक्षा ने घोड़े को इतना दुष्ट बना दिया था कि अश्वचालन में कुशल राजा वरांग ज्यों-ज्यों उसे रोकने की मेहनत करते त्यों-त्यों वह घोड़ा ज्यादा क्रोधित होकर अपनी गति और बढ़ाता था।

मंत्री द्वारा इस घोड़े को उलटा आचरण करने की ही शिक्षा दी होने से उसको रोकने के लिए राजा जितनी मेहनत करते उतनी ही तीव्र गति से वह भागता। रास्ते में अनेक गाँव, नगर, राज्य आदि आये वह उन्हें शीघ्रता से पार करके कोई अज्ञात देश में इस तरह पहुँच गया कि जैसे ऊपर तरफ फैंका हुआ जल वापस नीचे आता है।

इस ओर उसे बेरोक भागता देखकर उसका पीछा करने के लिये कितने ही अत्यंत वेगवान घोड़े उसके पीछे दोड़ाये, लेकिन कोई भी उसे पकड़ न सका, जैसे कि वेग से झपट्टा मारकर उड़नेवाले गरुड को आकाश में सब पक्षी मिलकर भी नहीं रोक सकते। वह दुष्ट घोड़ा ऊँचे-नीचे रास्तों में, झाड़ियों में, जंगल में अत्यंत वेग से जा रहा था जिससे वरांग के मुकुट तथा उसके शरीर पर के आभूषण निकल कर गिर गये। उनका हृदय विषाद से भर गया, शरीर आवेग से कांपने लगा और गला सूख गया। इतनी देर तक घोड़े की अत्यंत तीव्र गति के कारण राजा की शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगी तथा पराक्रम और पुरुषार्थ भी कम होता चला गया। अंत में घास से ढंके हुए एक कुए में जाकर दोनों गिर गये। अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय से कुए में गिरते ही घोड़ा मर गया, लेकिन युवक राजा वरांग ने पहले ही कोई बेल पकड़ ली थी कि जिससे वह मृत्यु से बच गये और धीरे-धीरे कुए से बाहर निकल आये। लेकिन बाहर निकलते ही अत्यंत कठोर भूमि पर मूर्छित होकर गिर पड़े। थोड़ी ही देर में जंगल की ठंडी हवा के कारण थकान उतरने पर सचेत होकर अपनी अवस्था देखकर संसार की अस्थिरता की निंदा करने लगे।

जब उनको अपने समस्त परिवार की याद आयी तो हृदय दुःख से खेदखिन्न हो गया और विलाप करने लगे, लेकिन तुरन्त ही उनका स्वाभिमान जाग्रत हो उठा कि वे तो राजपुत्र हैं। पहले

तो मंत्री के कपट को याद करके बहुत क्रोधित हुए लेकिन संसार की अस्थिरता देखकर चित्त उदास हो आया। बाद में हिंमत करके दिशा का भान न होने पर भी धीरे-धीरे चलने लगे। थोड़ी देर बाद पीछे देखा तो एक व्याघ्र उनका पीछा कर रहा था और वह बहुत ही नज़दीक आ गया था। उस वक्त वे तुरन्त ही अति शीघ्रता से एक वृक्ष पर चढ़ गये और पूरी रात उसी वृक्ष पर ही अत्यंत कष्टपूर्वक व्यतीत की।

वियोग के शोक और भविष्य की चिंता से राजा वरांग उदास थे। भूख और प्यास से अत्यंत व्याकुलित हो गये थे। वृक्ष के ऊपर ऐसी विषम परीस्थिति में एक रात बिताने पर उनको ऐसा लगा जैसे कि कई रातें बीत गई हों। वह व्याघ्र भी उनके मांस की लोलुपता से पूरी रात वहाँ से हिला ही नहीं। उसी समय राजा वरांग ने देखा कि एक जंगली हाथी-हथिनी जा रहे थे। उसने सोचा कि अगर यह हाथी यहाँ आये तो व्याघ्र के साथ युद्ध होगा और मैं यहाँ से निकल पाऊंगा — ऐसा विचार कर उसने हाथी को ललकारा। मनुष्य की ललकार सुनकर हाथी क्रोधित होकर उसकी ओर आया। हाथी को अपनी ओर आता देखकर व्याघ्र बहुत क्रोधित हुआ और उछलकर हाथी के गंडस्थल पर प्रहार किया। इस तरह व्याघ्र से घायल होकर हाथी का क्रोध भी अंतिम सीमा तक पहुँच गया। उसने व्याघ्र को नीचे गिराकर अपने दांतों से मार डाला। व्याघ्र के मरने के बाद हाथी भी दूसरी ओर चला गया।

एक बड़े संकट से छुटकारा मिलने पर वरांग को बहुत संतोष हुआ। भूख के कारण वरांग की दुरवस्था हो रही थी और प्यास के कारण भूख से ज्यादा व्याकुलित हो गये थे। इसलिए वे पुरुषार्थी वरांग तुरन्त ही पानी की शोध में निकल पड़े। हाथी के चलने से जो रास्ता बना था उस रास्ते से वरांग चलने लगे। थोड़ी ही

दूर एक तालाब देखा। विवेकी वरांग ने तालाब के पास जाकर पहले अपने हाथ-पैर धोये। तदनन्तर कमल के पत्ते से पानी पीकर अपनी प्यास शांत की। एक समय ऐसा था कि जब राजा वरांग अपने महल में सोने-चांदी के पात्र में सुगंधित और शीतल, अप्सरा समान युवतियों के हाथ से दिया जानेवाला पानी जितना चाहिये उतना पीते थे और एक समय यह है कि उसी राजा ने ऐसा पानी पिया कि जिसमें सिंह, व्याघ्र आदि की लार तथा हाथियों का मदजल मिश्रित होने के उपरांत अप्रासुक और बिनछना था। आज राजा कंकर-पत्थरवाली जमीन पर नंगे पैर चल रहे थे और उनके सामने कोई रास्ता ही नहीं था। पुण्यकर्म के उदय के कारण जिस राजा को पहले पांच इन्द्रियों के भोग्य विषय परिपूर्ण मात्रा में प्राप्त होते थे, उसी पुण्यकर्म की अनुभाग शक्ति–फलदान शक्ति का उदय रुक जाने से, वे ही राजा वरांग आज एक क्षुधा को भी शांत करने में असमर्थ थे।

राजा वरांग जैसे अतुल तथा असीम वैभव और प्रभुता के स्वामी का, कि जिसका प्रताप सूर्य समान समस्त विश्व को आक्रांत कर लेता हो, पूर्व पुण्य के नष्ट होने से उनकी भी समस्त संपत्ति पलभर में विलीन हो गई तो फिर सामान्य मनुष्य का तो कहना ही क्या, जो कि हमेशा दूसरों की आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहते हैं, दिन-रात सैंकड़ों तरह के क्लेश उठाते हैं तथा जिनकी आजीविका के साधन अत्यंत निकृष्ट हैं।

वरांग ने पानी पीकर अपनी प्यास बुझाई और शारीरिक थकान भी दूर करने के लिए स्नान करने का निश्चय किया। स्नान करने के लिए वरांग धीरे-धीरे तालाब में उतरे। तालाब में उतरकर वरांग ने अपने शरीर को रगड़-रगड़ कर अपनी इच्छानुसार पूर्ण स्नान किया। तदनन्तर वरांग को तालाब के मध्य में जाकर तैरने की इच्छा हुई। अपने पूर्वकृत कर्मों का फल वहाँ उस रूप में

मिलनेवाला होने से भवितव्यता की प्रेरणा से उन्होंने तालाब के अगाध जल में तैरना शुरू किया। तालाब में लंबे समय तक तैरने के बाद जैसे ही वरांग बाहर निकलने का निश्चय करके वापस लौटे कि तुरन्त ही मगर ने उनका पैर बहुत जोर से अपने मुख में पकड़ लिया। उन्होंने अपना पैर छुड़ाने के लिए बहुत मेहनत की लेकिन नहीं छुड़ा पाये।

वरांग विचार करने लगे कि कैसा भी उपाय करके महा कठिनाई से व्याघ्र का भय दूर हुआ अब यह दूसरी विपत्ति कहाँ से आ गई? पूर्व भव में बंधे हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल जीव को कहीं भी छोड़ता नहीं। चाहे तो अपने राज्य में रहता हो या अपना राज्य छोड़कर बाहर चला जाय। चाहे तो धरती पर ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर भागता फिरे या मित्रों और सम्बन्धियों से घिरा हुआ रहे। चाहे तो आकाश में उड़ जाय या बहुत ही मजबूत गृह में छिप जाय। कर्मों के फल की निश्चितता की ऐसी विधि है कि कोई भी कारण या योजना से उसका प्रतिकार नहीं हो सकता।

मगर से बचना अशक्य लगने पर वरांग ने बारह भावनाओं का चिंतवन चालू कर दिया उन्होंने अपना चित्त शुभ ध्यान में लगाया और पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगे – ऐसा चिंतवन-मनन-स्तुति करते समय उनके चहेरे पर जरा भी आकुलता नहीं दिखती थी। वरांग अपने उपयोग को बदलकर अपने आत्मा का चिंतवन करने लगे। वह सोचने लगे कि इस मगर के मुख से छूटकर मेरा बचना या मरना निश्चित ही है। मैं व्यर्थ में ही आकुलित होकर नये कर्मों का बंध कर रहा हूँ। क्रमबद्ध में बचना होगा तो बच जाऊँगा और मरना होगा तो अवश्य ही मरूँगा, उसमें कोई कुछ नहीं कर पायेगा। यदि मेरा बचना निश्चित होगा तो कोई देव आकर भी मेरी मदद करेगा। अभी

राग की उपस्थिति होने से राजा वरांग बचने के लिए मेहनत कर रहे थे, लेकिन साथ-साथ चिंतवन भी कर रहे थे कि मैं तो भगवान पूर्ण परमात्मा वर्तमान में ही हूँ। मेरे और इस शरीर का कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर दूसरों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध?

अरे! केवली भगवान तो कहते हैं कि यह जो रागादि विकारी पर्याय है उसका भी मैं कर्ता नहीं! अरे! कर्ता तो नहीं लेकिन वास्तव में तो रागादि विकारी पर्याय का ज्ञाता भी नहीं! मैं तो मात्र अपने ज्ञान को ही जानता हूँ। मैं ही ज्ञान, मैं ही ज्ञाता और मैं ही ज्ञेय हूँ तो फिर इस मगर द्वारा मेरे ऊपर उपसर्ग होना यह तो कोई वस्तु ही नहीं। मगर को यह शरीर चाहिए और मुझे मेरा आत्मा चाहिए तो फिर भले ही यह इस जड़-पुद्गल शरीर को ले जाये।

अत्यंत सरल और शुद्ध अंतःकरण से राजा वरांग जब इसप्रकार से आत्मस्तुति कर रहे थे, उसी समय अकस्मात ही पूर्व पुण्य के उदय से और आयुकर्म बाकी होने से किसी यक्षिणी की दृष्टि उनके ऊपर पड़ी। कठोरतम विपत्ति में पड़े हुए तथा सब प्रकार से विवश होने पर भी अपने पुण्य को धारण किये हुए वरांग को देखकर उस यक्षिणी की सहज करुणा उमड़ पड़ी और प्रत्यक्ष दर्शन दिये बिना ही मगर के मुख में से वरांग का पैर छुड़ाया। मगर के मुख में से पैर छूटते ही वे तुरन्त तालाब के बाहर आये, पंच नमस्कार मंत्र का उच्चारण किया और चारों तरफ देखने लगे कि मुझे किसने बचाया, लेकिन पास में कोई न दिखने से उन्होंने सोचा कि भवितव्यता ही बलवान है।

जब वरांग उक्त प्रकार से विचार कर ही रहे थे तब उनको बचानेवाली देवी उनके ऊपर प्रसन्न होकर सूक्ष्म रूप का त्याग करके अपने मूल स्वरूप में वरांग की परीक्षा करने के लिए उनके सामने उपस्थित हो गई। उसकी सुंदरता का वर्णन करना अशक्य है,

उसकी सुंदरता अनुपम थी। उसने वरांग के नज़दीक आकर कहा कि हे आर्य! मैं जानना चाहती हूँ कि आप कहाँ से आये हो? यहाँ रहने में आपका क्या प्रयोजन है? यहाँ से कहाँ जाओगे? अगर आपको कोई एतराज न हो तो इन प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

जिसके निर्दोष और सुंदर रूप के सामने संसार का अन्य कोई सौंदर्य स्पर्धा नहीं कर सकता – ऐसी रूपवती को देखते ही युवक राजा गंभीर विचारों में खो गये, उन्होंने सोचा कि क्या यह रूपराशि किसी देव की प्राणवल्लभा है? मनुष्य है? अथवा किसी राक्षसनी ने मनुष्य का रूप धारण किया है? सिंहादिक हिंसक जीवों से भरे हुए इस जंगल में निडर और निःशंक होकर घूम रही है, आखिर यह कौन होगी? यह अचानक कहाँ से आ गई? यह किसकी पुत्री या पत्नी होगी? उनको उसकी एक-एक बात में शंका उत्पन्न होने लगी।

ऐसी परिस्थिति में उस स्त्री ने वरांग से कहा कि हे आर्य! मैं एक विशाल राज्य के अधिपति की संतान हूँ, मेरा पूर्व पुण्य समाप्त हो गया है इसलिए मैं सबकुछ भूलकर और सबकुछ खोकर इस निर्जन वन में अकेली रहती हूँ, पूर्व जन्म में कोई पुण्य का कार्य किया होगा कि जिसके प्रताप से यहाँ इस अटवी में भी भटकते हुए मुझे आपके दर्शन हुए। ज्यादा क्या कहूँ? लेकिन आपको देखते ही मेरा मन और शरीर आपके वश में हो गया है। मैं अत्यंत दुःखी हूँ। संसार में मेरा और कोई सहारा नहीं है इसलिए मुझे स्वीकार कीजिये। मैंने इतने दारुण दुःख सहन किये हैं कि एक प्रकार से मेरी चेतना ही नष्ट हो गई है। मेरा कोई ठिकाना नहीं है और मैं अपनी विपत्तियों का सामना भी नहीं कर सकती। अब आप ही मेरे शरणदाता हो। मेरा उद्धार आप ही कर सकते हो।

उस स्त्री को देखकर ऐसा लग रहा था कि वह विविध ज्ञान और सकल कलाओं में पारंगत हो। साथ ही साथ वह इतनी ढीट

थी कि उत्तर न मिलने पर वरांग को बार-बार हिलाती और स्नेह वचन बोलती उसके छूने से अपने को असहज अनुभव करते हुए वे अपने बाल और शरीर की रुक्षता तथा कपड़ों की दुर्दशा देखकर शरम से झुक गये फिर भी संकोच करते हुए बोले कि हे आर्ये! आपके प्रिय वचन निश्चय से मेरे लिए सुभाषित हैं और इसलिए ग्रहण करने योग्य हो सकते हैं लेकिन आप यह भी जानते हो कि प्रियवचन के जैसे ही सत्य वचन भी शोभा प्राप्त करते हैं। आप देख रहे हो कि वर्तमान में यहाँ मेरे निर्वाह का कोई मार्ग नहीं है इसलिए हे आर्ये! मैं आपका सहारा कैसे बन सकता हूँ वह आप ही बताईये? जो व्यक्ति जग रहा हो वह दूसरों को जगा सकता है अथवा जो स्थिर हो वह दूसरों की अस्थिर अवस्था का अंत कर सकता है, लेकिन जो स्वयं ही सो रहा हो वह दूसरे को कैसे जगा सकता है अथवा जिसकी स्वयं की स्थिति अस्थिर हो वह दूसरे को कैसे स्थिर करे?

वरांग का ऐसा उत्तर सुनकर वह स्त्री वापस बोलने लगी कि हे आर्य! आपको ऐसा उत्तर देना शोभा नहीं देता। ऐसी बातें तो वही करता है कि जो कुपुरुष हो अथवा तो जिसकी सभी अभिलाषा एवं प्रेमाभिलाषा शांत हो गई हो। मैं आपकी शरण में आई हूँ और आप में अत्यंत भक्ति रखती हूँ इसलिए आप मुझे स्वीकार कीजिये।

वरांग का यौवन अभी तो शुरू ही हुआ था और वह सुंदर भी था, उसके अतिरिक्त सामने खड़ी सुंदरी के प्रिय वचन भी काम को जागृत करनेवाले थे। फिर भी उसको सुनते ही राजा ने अपनी पत्नी में ही रति को केन्द्रित करनेवाला 'स्वदारसंतोष' व्रत ग्रहण किया था वह याद किया। फल स्वरूप थोड़ी देर विचार करके राजा ने उससे कहा कि हे आर्ये! आज से थोड़े समय पूर्व

मुझे परम पूज्य केवली के दर्शन का लाभ मिला था। उसी समय मैंने अनेक मुनियों के समक्ष 'स्वदारसंतोष' व्रत ग्रहण किया था। यह व्रत मनुष्य के कामाचार को नियंत्रित करके उसको समाधि की ओर ले जाता है। 'मैं कामी नहीं हूँ या पुंसत्व से रहित हूँ' ऐसा नहीं है और आपके बारे में विचार करूँ तो हे सुंदरी! आप कमनीय युवती नहीं हो—ऐसा तो विचारा ही नहीं जा सकता। सत्य तो यही है कि मैं 'स्वदार-संतोषव्रत' से भूषित हूँ और आप तो जानती ही हो कि कोई भी व्रत को ग्रहण करके तोड़ना कितना नीच कार्य है।

यह सुनकर देवी प्रसन्न हुई और उसे विश्वास हो गया कि युवक राजा की बुद्धि स्थिर है और ग्रहण किये हुए व्रत के पालन में अत्यंत दृढ़ है। तदनन्तर उसने अपना वास्तविक रूप प्रगट किया और वरांग की परीक्षा के लिए उनसे माफी मांगी। वरांग की भूरि-भूरि प्रशंसा करके अचानक ही आकाश में अदृश्य हो गई। इस तरह वरांग दो संकटों से अभी मुक्त हुए ही थे, लेकिन अभी यह प्रश्न उपस्थित था कि अब आगे कहाँ जाना है? वे सोच रहे थे कि करूँ तो क्या करूँ? ऐसा विचार करते हुए वे वहाँ से आगे की ओर लिए चल दिये। रास्ते में आगे बढ़ते समय बीच में कुछ खाने लायक फलों को खाकर अपनी भूख मिटाई। अपने जीने के ध्येय को सफल करने के लिये आगे ही आगे चले जा रहे थे और उस अवस्था में उनके एक मात्र साथीदार उनके दो हाथ ही थे।

आगे जाकर युवक राजा वरांग ने पुलिंद जाति के लोगों को देखा। अत्यंत डरावने और हजारों की तादात में वह चले जा रहे थे। वरांग को देखते ही उन्होंने अपने डंड़े, तलवार, धनुष-बाण हाथ में लेकर उनको चारों तरफ से घेरकर बांध लिया। वे लोग वरांग को बाणों की नोंक से मारते-मारते अपने निवास पर ले गये। वहाँ पहुंचकर वे लोग वरांग को अपने राजा की

झोंपड़ी में ले गये। जिस झोंपड़ी के चारों ओर हाथी के दांत की बाड़ थी, वह हिरनों की हड्डीयों और लाशों से भरी पड़ी थी। बैठने के स्थान में चरबी, आंत आदि फैले हुए पड़े थे जिसमें से ऐसी दुर्गंध आ रही थी कि जिसको क्षणभर के लिए भी दूर से सूंघना असंभव था दुराचारी निर्दयी उन भीलों ने दु:खित होते हुए, बंधन में पड़े तथा शारीरिक वेदना के कारण अत्यंत व्याकुल हुए वरांग को ऐसी घोर घृणा को उत्पन्न करनेवाली तथा आँखों में शूल समान चुभनेवाली उस झोंपड़ी में रख दिया।

वरांग विचार कर रहे हैं कि फल को जाने बिना ही पापमय प्रवृत्ति में लिप्त मैंने पूर्वजन्म में कैसे-कैसे अशुभ कर्म किये होंगे कि जिसका उदय आने पर इतने कड़वे फल प्राप्त हो रहे हैं जिससे मुझ पापी को आज भी संकटरूपी घातक और उन्नत लहरों से व्याप्त इस दु:खरूपी समुद्र से छुटकारा नहीं मिल रहा है। कुत्सित तथा पापमय कर्मों का आचरण कितना दु:खद और भयंकर है। कुकर्मों का फल सर्वदा खराब ही होता है। भगीरथ प्रयत्न करने पर भी उसे नहीं टाला जा सकता, क्योंकि उसकी शक्ति ऐसी है कि जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। जिस स्थान में उसको बंदी बनाकर रखा गया था वह स्थान केवल अंधकार से ही बनाया गया हो – ऐसा लग रहा था। उसके सभी कोनों में चमड़ा ही भरा हुआ था कि जिसमें से सड़ी हुई बास आ रही थी। वहाँ अनेक प्रकार की चींटी, मकोड़े, मच्छर का तो अक्षय भंडार था। तदुपरांत भूख से शरीर टूट रहा था, अपमान की ज्वाला मन को जला रही थी, रस्सी का बंधन अंग-अंग में जल रहा था, स्थान की दुर्गंध और रक्त आदि की धारा विकट वेदना को उत्पन्न कर रही थी, आँख के सामने जो कुछ आता वह सिर्फ अप्रिय ही था तथा दु:ख और चिंता भी अपरिमित थी। इन सब कारणों से बेचारे वरांग को एक रात्रि बिताने पर ऐसा लगा कि मानों हजारों रात्रि बीत गई हों।

सुबह होते ही पुलिंदों के अधिपति के सेवक जिनके अंत:करण इतने मलिन थे कि उनसे दया की संभावना करना ही अशक्य था। वरांग को पकड़कर जबरदस्ती वनदेवी के मंदिर में इस तरह घसीट कर ले जाया गया कि जैसे यज्ञ में नियुक्त ब्राह्मण यज्ञ के बकरे को बलि चढ़ाने के लिये ले जा रहा हो। इस दौरान पुलिंदपति (भीलों के राजा) के अनुपम और अमित पराक्रमी पुत्र को, शिकार की इच्छा से जंगल में जाते हुए कुपित महा विषैले सर्प ने डस लिया, क्योंकि उसके पैर के नीचे सर्प आ गया था। सर्प के डसते ही विष इतने वेग से सम्पूर्ण शरीर में फैल गया कि वह भीमकाय पुलिंद क्षणभर में ही मूर्च्छित होकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके सेवक उसको उसके पिता के पास ले गये। उसका पिता भयभीत होकर तुरंत ही विष का प्रतिकार शोधने के लिये वनदेवी के मंदिर में जा पहुँचा। वहाँ उसने वरांग को बंधन में विवश पड़ा हुआ देखा। पुलिंदपति ने वरांग को पूछा कि क्या तुझे विष का उपचार करना आता है? वरांग ने कहा कि मैं किसी का भी विष उतार सकता हूँ। यह सुनते ही पुलिंदपति ने उसका बंधन तुड़वाया और उससे प्रार्थना की कि उसके ऊपर अनुग्रह करके उसके पुत्र को बचाये।

पुलिंदपति के पुत्र के नज़दीक पहुँचकर परम ऋषियों, श्रेष्ठ योगियों तथा साधुओं द्वारा विधिवत् बताये हुए मंत्र का पाठ करने के साथ-साथ श्री जिनेन्द्र भगवान के स्तवनों का भी उच्चारण करता हुआ वरांग, युवक पुलिंद के शरीर पर पानी के छींटे डालने लगा। धीरे-धीरे थोड़ी ही देर में युवक पुलिंद सम्पूर्ण जागृत हो गया। यह देखकर पुलिंदपति ने प्रार्थना की कि हे नाथ! हमने आपको पहचानने में भूल करके आपको बहुत ही कष्ट दिये हैं। हम मूर्खबुद्धियों ने आपका अपराध किया है जो क्षमा करें। राजा वरांग ने उनको तुरंत ही बड़ी ही सरलता से माफ कर दिया कि जिससे

खुश होकर भीलों के सरदार ने उनको बहुत से उत्तम उपहार देकर कहा कि आपके घाव भर जाने के बाद ही आप यहाँ से विदा होना।

वरांग ने कहा कि मुझे किसी प्रकार की भेंट की आवश्यकता नहीं है। मुझे केवल किसी भी नगर की ओर का मार्ग दिखाओ और विदा करो कि जिससे मैं जल्द ही किसी नगर में पहुँच सकूँ। पुलिंद राजा के इशारे से कई भील बहुत दूर तक साथ चलकर राजा वरांग को अनेक देशों तरफ जानेवाला उत्तम मार्ग दिखाकर स्वयं वन में वापस लौट आये। भील लोगों के वापस जाने के बाद राजा वरांग सोचने लगा कि अब मैं कहाँ जाऊँ? अपने देश में वापस जाऊँ या किसी और देश में? उसने सोचा कि मेरे पूर्वकृत कर्मों के विपाक ने मुझे राज्य सिंहासन से खींचकर एक पल में ही जिस तरह अमित वैभव और प्रभुता से वंचित कर दिया है, अगर मेरा पुण्य शेष होगा तो वही पुण्यकर्म मुझे समय आने पर इसी प्रकार से राज्य सिंहासन पर स्थापित करेगा। विविध आपत्तियों को सहन करने के बाद भी उनके आत्मबल की सीमा न थी इसलिए अपने देश की ओर न जाकर दूसरे देश में जाने का निर्णय करके अपने इष्ट की सिद्धि करने के लिए एक लम्बे रास्ते पर वरांग चलने लगे। जहाँ भी सूर्यास्त होता था वहीं किसी वृक्ष पर चढ़कर रात्रि व्यतीत करते थे और सबेरा होते ही आगे चलने लगते थे।

एक दिन ऐसे ही मार्ग पर चलते उन्हें कुछ व्यापारियों के समूह ने देखा और तुरंत ही उन सब निर्दयी लोगों ने उन्हें चारों तरफ से घेर कर रोक लिया। उन्होंने वरांग को डाँटकर पूछा कि तू कहाँ जा रहा है? क्या जासूसी कर रहा है? तेरा क्या प्रयोजन है? तेरे अधिपति का नाम क्या है? अभी वो कहाँ है? उसके सैन्य का प्रमाण कितना है? यहाँ से कितने योजन दूर है? इत्यादि सभी बातें सही-सही बता। वरांग ने कहा कि न तो मैं

कोई गुप्तचर हूँ और ना ही धनसंपत्ति की शोध में फिर रहा हूँ। ना ही मेरे मन में कोई पाप है और ना ही चोरी मेरी आजीविका है तथा मैं किसी के द्वारा भेजा हुआ किंकर भी नहीं हूँ। आप इतना विश्वास करो कि दैव का मारा मैं केवल निरुद्देश्य ही भ्रमण कर रहा हूँ।

इस उत्तर से उनको संतोष नहीं हुआ इसलिए उन्होंने कहा कि हम कुछ नहीं जानते, दोष और गुणों का विवेक करने में हमारे प्रधान अत्यंत कुशल हैं इसलिए तुम्हारे विषय में वे ही निर्णय करेंगे; क्योंकि ऐसे विषय में क्या कर्तव्य युक्तिसंगत होगा, यह वे ही समझते हैं। ऐसा कहकर वे वरांग को अपने प्रधान के पास ले गये। परिपूर्ण यौवन, सुंदर बंधन से बंधे हुए राजा के शुभ लक्षणों से व्याप्त शरीर को देखकर ही प्रधान सार्थपति को उनकी कुलीनता का विश्वास हो गया। इसलिए उन्होंने आज्ञा की कि इनको तुरंत ही बंधन से मुक्त करो। यह सैकड़ों सार्थों के स्वामी हैं, चोर नहीं हो सकते। यह कोई प्रबल प्रतापी राजा का पुत्र है अथवा स्वयं ही कोई बड़ा राजा है। उनका शरीर और मुखाकृति भी मनमोहक है। वे बेचारे इस तरह की आपत्ति में किस तरह फँस गये?

सार्थपति ने राजा वरांग से पूछा कि हे आर्य! आप कहाँ से आ रहे हो? यहाँ से कहाँ जा रहे हो? आपके माता-पिता का नाम क्या है? आपका गोत्र क्या है? यदि आपके इष्टकार्य में बाधा न पहुँचे तो मेरे प्रश्नों के उत्तर दीजिये। राजकुमार वरांग स्वभाव से ही बुद्धिमान तथा लोकाचार में कुशल थे। इसलिए उन्होंने अपने ऊपर बीती हुई तकलीफें तथा आगे-पीछे का कर्तव्य विचार कर उत्तर में सिर्फ इतना कहा कि मेरी वर्तमान अवस्था सब स्पष्ट बता रही है, इन सब बातों से क्या प्रयोजन? कृपा करके मुझे छोड़ दीजिये।

वरांग के अत्यंत सज्ञनता और साधुता युक्त वचन सुनकर सार्थपति ने अपने साथिओं के समूह में प्रसन्नता और उत्साह से घोषणा की कि अरे! इनकी परमोत्कृष्ट कुलीनता को आप लोग देखो तो सही! अपने विभिन्न व्यवहार से न तो इन्हें आश्चर्य हो रहा है और न ही अपने अपमान करने से वे अपने ऊपर कुपित हो रहे हैं। इसप्रकार उनके गुणों की हृदय से प्रशंसा करते हुए सार्थपति की नजर उनके दुर्बल तथा कृश ललाट और नेत्रों पर अटक गई। यह देखकर वह आदर और स्नेह से वरांग का हाथ अपने हाथ में लेकर आग्रहपूर्वक अपने तंबू में ले गये। तंबू में पहुँचते ही सार्थपति ने युवक वरांग के पैर धोने के लिए पानी मंगाया तथा अपने सामने ही उसने शरीर-मर्दन, लेपन आदि कराया। उसने अपने सेवकों को आज्ञा की, कि वे वरांग को सुकुमारता पूर्वक जल्दी स्नान करवायें तदुपरांत सार्थपति वरांग के लिए अच्छे से अच्छा भोजन बनवाने लगे। शुरू के थोड़े दिन तो सार्थपति उनके साथ ही भोजन करते थे जिससे उन्हें संकोच न हो। पात्र की सुविधा अनुसार अपनी शक्तिप्रमाण सार्थपति उत्तमोत्तम वस्त्राभरण देते थे फिर भी कहते थे कि असुविधा के लिए क्षमा करना। यह सब देखकर वरांग राजा ने कुछ देर इनके साथ चलने का निश्चय किया।

सार्थ की रक्षा के लिए सब दिशाओं में नियुक्त रक्षकों ने शीघ्रता से वणिकों के संघ में आकर उनके प्रधान सागरवृद्धि को कहा कि यह अंगरक्षक अपनी-अपनी दिशा में तत्परता से निरीक्षण कर रहे थे कि भीलों को देखकर डर गये। हे स्वामी! अत्यंत शक्तिशाली, निकृष्टतम निर्दय, स्वभावतः न रोके जाने योग्य काल तथा महाकाल नाम से प्रसिद्ध पुलिंदों के नायक भीलों की चार-चार हजार प्रमाण सेना ने तीन तरफ से अपने ऊपर आक्रमण कर दिया है। इस विकट परिस्थिति में जो कुछ हितकारी हो वह करने की आज्ञा दीजिये। सर्व दिशाओं में नियुक्त रक्षकों से उक्त

समाचार सुनकर सार्थपति सागरवृद्धि ने अपने विश्वस्त पुरुषों तथा स्वामीभक्त सेवकों को बुलाकर उत्साहवर्धक प्रशंसामय वचनों द्वारा भविष्य में उन्नति की आशा आदि से उनका सत्कार करके उनको आज्ञा की कि सब युद्ध के लिये अतिशीघ्र तैयार हो जाओ। अपनी सेना के सुभटों को युद्ध के लिए तैयार होता देखकर तथा आक्रमण करनेवाली भीलों की सेनाओं के रागवाद्यों की ध्वनि सुनकर वरांग ने सेठ के समीप जाकर कहा कि हे सार्थपति! ढाल के साथ एक उत्तम तलवार मुझे भी देने की कृपा करें।

सार्थपति ने उनको समझाया कि हे भद्रमुख! पहली बात तो यह कि आप अभी सुकुमार युवक हो। दूसरी बात यह कि बहुत कष्टों को सहने के कारण आप दुर्बल और कृष हो गये हो तथा संभवतः आप नहीं समझते हो कि युद्ध में जाना कितना कष्टकारक और कठोर होता है। हे वत्स! शस्त्र का क्या करोगे? मेरे साथ यहीं बैठो। सार्थपति और पुलिंदपति दोनों की सेना ऐसे तीक्ष्ण और घातक शस्त्रों से सुसज्जित थी जैसा स्वरूप चंचल बिजली का होता है।

काल और महाकाल दोनों पुलिंदपति स्वयं भी अत्यंत बलवान और उग्र थे तथा उनके साथ बारह हजार निर्दय सेना थी। वह दोनों जंगली हाथी के समान बाणों की बारिस करते हुए सार्थपति की सेना पर टूट पड़े। सार्थपति की सेना ने भी भीलों की सेना को बाणों से भेद ड़ाला। यह देखकर काल और महाकाल दोनों का क्रोध बहुत ही बढ़ गया और फलस्वरूप वे अत्यंत रुद्र और उद्दंड हो गये थे। पुलिंदपति और सार्थपति के योद्धाओं का घोर युद्ध पहले तो ऐसा लगता था कि दोनों बराबरी से युद्ध कर रहे हैं, लेकिन तुरन्त ही पुलिंदों का जोर बढ़ गया और उनके द्वारा सार्थपति का सैन्य आकुल-व्याकुल होकर बुरी तरह से हारने लगा था।

सार्थपति के योद्धाओं ने अचानक अपने घर-परिवार की याद आने से सोचा कि हम तो न्यायमार्ग से धन कमाकर शांतिपूर्वक

जीवन व्यतीत करनेवाले हैं, इन जंगलियों से युद्ध में जीता नहीं जा सकता। ऐसा सोचकर उन्होंने बुरी तरह से भागना चालू कर दिया। अत्यंत शक्तिशाली पुलिंदों की विजयी सेना ने सार्थवाह की सेना को चींटी-मकोड़ों के समान छिन्न-भिन्न हुए देखकर अपने पुरुषार्थ में सफल होने के कारण असंख्य संपत्ति से परिपूर्ण सार्थ को 'इस तरफ से.... इस तरफ से' ऐसा कहकर लूटना, काटना, मारना चालू कर दिया।

इस लूटमार में लीन भीलों की सेना को देखकर प्रबल पराक्रमी युवक वीर वरांग के क्षोभ की सीमा नहीं रही, वे सोचने लगे – "मैं युद्ध में उतरे हुए इन नीच पुलिंदों को ढूंढ़-ढूंढ़कर मारकर विपत्ति में पड़े हुए वणिकों की रक्षा और पालन करूँगा अथवा लड़ते-लड़ते इन्हीं नीच पुंलिंदों के समूह में घुसकर उनके प्रहारों से मरकर वीरगति प्राप्त करूँगा।" ज्यों ही वीर वरांग ने ऐसा निर्णय किया त्यों ही एक पुलिंद उसके सामने से निकला। वरांग ने एक लात मारकर उसको ढेर कर दिया क्योंकि उनके पराक्रम का न तो कोई प्रतिरोध कर सकता था और ना हि कोई सहन कर सकता था। तुरन्त ही सिंह समान शक्तिशाली वीर वरांग ने उस गिरे हुए भील के हाथ में से ढाल सहित तलवार छीन ली, फिर क्या था? शस्त्र चलाने में कुशल योद्धा वरांग अत्यंत वेग से तलवार को चलाते हुए बाणों की वर्षा में घुस गये और अपने रणकौशल के कारण बाणों को व्यर्थ करते हुए थोड़ी ही देर में वे पुलिंदपति के पुत्र के सामने जा पहुँचे।

व्यवस्थित युद्ध करने की शिक्षा से अनभिज्ञ होने से पुलिंद युवराज काल ने वीर वरांग के ऊपर जंगली मस्त हाथी के जैसे आक्रमण किया। वरांग ने पुलिंदपुत्र के इस वार को अपनी शस्त्रविद्या द्वारा रोककर ऐसा प्रहार किया कि काल के प्राणपखेरु उसी समय, उसी जगह, उसका शरीर छोड़कर चले गये। काल

का पिता साक्षात् यम की प्रतिमा होने से महाकाल के नाम से पहिचाना जाता था। जब उसे अपने पुत्र की मृत्यु के समाचार मिले तब अत्यंत क्रोधित होकर वह स्वयं वरांग के साथ युद्ध करने लगा। उन दोनों के बीच में थोड़ी देर युद्ध चला। पुलिंदनाथ महाकाल अपने पुत्र की मृत्यु के कारण अति क्रोधित था लेकिन वीर वरांग युद्धकला में कुशल होने से उसे महाकाल का कोई भी प्रहार छू नहीं सका। तदनन्तर, वरांग का क्रोध भी बहुत बढ़ गया और उसने महाकाल के ऊपर भी एक ऐसा ही प्रहार किया कि वह भी धरती पर गिर पड़ा और अपने पुत्र के वियोग को दूर करने के लिये उसके पास चला गया। अपने सेनापति महाकाल की मृत्यु देखकर दूसरे पुलिंद इतने डर गये कि आधे तो भाग गये, कितने ही शरण में आ गये और कितने ही वरांग के हाथों से अपने सेनापति महाकाल के पास चले गये-मर गये। इस तरह शत्रु और शत्रुसेना का मर्दन करके वीर योद्धा वरांग समरांगण से वापस आ गये। समरांगण से आते ही अपने शरीर पर लगे हुए अनेक घावों के कारण वे बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े।

विजयी वरांग के युद्ध में से वापस आने के समाचार सुनकर सार्थपति बहुत ही आतुरता से उनको मिलने के लिए दौड़े चले आये। आकर देखते हैं कि युवक वरांग धरती पर आंखें बंद करके पड़े हैं। नजदीक आकर देखा तो पता चला कि वे बेहोश हुए हैं लेकिन जीवित हैं। बाण और तलवार के प्रहार से अपने शरीर को भूषित करके बहुत ही परिश्रम के कारण राजपुत्र अचेतन होकर जमीन पर गिर पड़े थे, परंतु स्वभाव से ही लावण्य से भरा हुआ उनका शरीर उस अवस्था में भी आकर्षक लग रहा था।

ऐसी हालत में वरांग को देखकर सार्थपति बहुत ही दुःखी हृदय से कहने लगे कि हाय वत्स! यह तुम्हें क्या हो गया है? हे श्रेष्ठ! तुम कुछ बोलो, ऐसे मौन धारण करके इस कठोर धरती

पर क्यों पड़े हो? हे भद्र! उठो और शीघ्र हमारे ऊपर कृपा करो। हे नाथ! कृपा करके प्रीतिवचन बोलो। उठो, चलो, अभी तो तुम बालक ही हो। अनेक कष्ट सहन करने के कारण दुर्बल और कृश हो गये हो। कोई साथी भी नहीं, पहनने के लिये कवच भी नहीं और सामान्य कपड़ों में ही अकेले ने ही शत्रुसेना को मार कर नष्ट कर दिया। कोई हीन इच्छा बिना और विशेष प्रयत्न बिना ही तुम मुझे अधम-ऋणी बनाकर इस लोक से जा रहे हो! तुम अत्यंत उदार और कुशल हो। तुमने मेरे ऊपर अपार उपकार किया है और मैं कुछ भी न कर सका। यदि इस समय तुम प्राण रहित हो जाओगे तो मैं क्या करूँगा? इत्यादि वचनों द्वारा सार्थपति करुण विलाप करने लगे।

इस दरम्यान दूसरे वणिकों ने उन्हें चंदन का लेप किया, वैद्यों ने भी घाव पर लेप लगाये और ठंडी हवा करने लगे। थोड़ी देर में थकान दूर होने पर विजयी वीर वरांग धीरे-धीरे आंख खोलकर बैठ गये। वरांग को जीवित देखकर सार्थपति सागरवृद्धि के हृदय सरोवर में खुशी की तरंगें उठने लगीं। उनके हृदय में अपने ऊपर किये हुए उपकार के बदले में वरांग के लिये कुछ करने की भावना प्रबल होने लगी, इसलिए उत्तमोत्तम लाखों रत्न तथा कोटि प्रमाण सुवर्ण लाकर उन अद्वितीय पराक्रमी वीर वरांग के सामने रख दिये। भेंट के स्वरूप में सामने रखी हुई विपुल संपत्ति को देखकर विवेकी वरांग को जरा भी आश्चर्य या कुतूहल नहीं हुआ, क्योंकि वह स्वयं कुलीन थे तथा इससे अत्यधिक संपत्ति के स्वामी रह चुके थे। सार्थपति की मानसिक भावना का अनुमान करके वरांग ने इतना ही कहा कि आप यह धनराशि आपके इष्ट तथा प्रियजनों में बाट दो। वरांग की सन्मति लोभ द्वारा नहीं जीती जा सकती होने से उनके कहे अनुसार ही सार्थपति ने अन्य मुखियाओं को कहा कि जैसा कश्चिद्भट्ट – वरांग कहते हैं वैसा ही करो।

सार्थपति के साथ चलनेवाले वैद्यों ने उत्तम औषधियों से वरांग के घाव थोड़े ही दिनों में भर दिये। तदनन्तर अत्यंत शुभ मुहूर्त में सार्थपति ने आगे आनेवाले राष्ट्र में प्रवेश करने के लिये प्रयाण किया। उस समय नरेश्वर वरांग भी सागरवृद्धि के साथ एक पालकी पर सवार होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। सार्थ के साथ चलनेवाले नट, वीट, याचक, पुरोहित आदि लोगों ने युवक वीर की विशाल कीर्ति को रास्ते में आनेवाले सभी देशों में प्रसिद्ध कर दी। विभिन्न ग्राम, विविध नगर तथा विविध राष्ट्र में यथासुविधा पड़ाव डालता हुआ सागरवृद्धि वरांग के साथ बिना किसी विघ्न के लाभप्रद वस्तुओं का व्यापार करते-करते धीरे-धीरे उसी नगर में जा पहुँचा कि जहाँ से वह व्यापार के लिये निकला था।

नगर के सर्वश्रेष्ठ सागरवृद्धि सेठ अतुल संपत्ति के उपार्जनरूप कार्य में सफल होकर नगर में वापस आये हैं-ऐसा समाचार सुनकर समस्त नगर के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध आदि सब लोग उनका स्वागत करने के लिए आ पहुँचे। सागरवृद्धि की श्रीमती भी सफल यात्रा से वापस आये हुए अपने पति के स्वागत के लिए अन्य स्त्रियों सहित आई थी। अब तक कश्चिद्‌भट्ट - वरांग की यशोगाथा समस्त नगर में फैल गई होने से श्रीमती सागरवृद्धि भी अपनी सहेलियों के साथ पहले उनको देखने गई थी। पवित्र स्नेहादि भावों से परिपूर्ण सेठानी को देखते ही कश्चिद्‌भट्ट अत्यंत विनयपूर्वक अपनी माता समान पूज्य मानकर उनका आदर करने के लिए त्वरा (शीघ्रता) से खड़े हो गये। सज्जनमति सेठानी ने भी उनको अपने पुत्र से भी अधिक माना। तदनन्तर उस पतिव्रता ने अत्यंत प्रसन्न होकर अपने पति के पास जाकर शालीनता, शिष्टाचार तथा विनय से उनका स्वागत किया।

तदनन्तर सार्थपति ने भी बहुत उत्साह से अपने बांधवों से, पत्नियों, पुत्रों, मित्रों से मिलकर उनके कुशल समाचार पूछे। नगर

के सभी आनेवालों से प्रेम से मिलने के बाद उन्होंने अपनी यात्रा के विवरण के प्रसंग में पुलिंदसेना के आक्रमण से लेकर कश्चिद्भट्ट द्वारा उन सबकी मृत्यु तथा अपनी जीत तक की सभी बातें की। यात्रा की बातें सुनकर नगर की अठारह श्रेणी के प्रधान तथा सागरवृद्धि ने कश्चिद्भट्ट का सन्मानपूर्वक नगर में स्वागत किया तथा भेंट दी। जब सागरवृद्धि अपने घर पहुँचे तब उन्होंने अत्यंत वात्सल्य और आदरपूर्वक कश्चिद्भट्ट को बुलाकर अपने घर में पड़ी हुई विविध प्रकार की अतुल संपत्ति अलग-अलग करके दिखाई तथा अपने परिवारजनों से मिलाते हुए कहा कि ये तुम्हारी बहनें हैं, यह तुम्हारे छोटे भाई हैं, यह तुम्हारी माताजी हैं और तुम्हारे सेवकादि आश्रितजन हैं। यह सब पुत्र-मित्र तथा समस्त सम्पत्ति तेरे वश में ही है ऐसा भेदभाव बिना समझना। इस तरह सार्थपति ने अपने आप सदा वृद्धिंगत अपनी स्थावर तथा जंगम संपत्ति, सजीव तथा निर्जीव वैभव आदि कश्चिद्भट्ट को दिखाकर अपने को कृतकृत्य माना। तदनन्तर बहुत समय तक अपने घर में कुटुम्बियों के साथ उनके बीच में रहकर सुखी जीवन व्यतीत किया।

इसप्रकार पर्याप्त समय बीत जाने के बाद एक दिन नगर की श्रेणिओं के प्रधान सेठ सागरवृद्धि शास्त्र से अनुकूल संयमी तथा विचारक अपने समवयस्क वृद्धों के साथ मत-विनिमय करके अपनी धर्मपत्नी को साथ लेकर कश्चिद्भट्ट के घर में गये। आवश्यक शिष्टाचार के बाद सेठ ने कश्चिद्भट्ट के सामने अत्यंत शुद्ध प्रस्ताव रखा कि इस नगर के अनेक प्रमुख व्यवसायी ऐसे हैं कि जिनकी संपत्ति करोड़ों से भी अत्यधिक है। तुम्हारा स्वास्थ्य, सौंदर्य, सुशिक्षा तथा सदाचार आदि गुणों को देखकर वे सब अपनी सुशील तथा स्वस्थ कन्याओं का तुम्हारे साथ विवाह कराने के लिए उत्सुक हैं। हमारा आग्रह है कि हे वत्स! तुम भी इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लो।

कश्चिद्भट्ट ने सेठजी को कहा कि जब मेरे पूर्वजन्म के उपार्जित भाग्य ने भी मुझे छोड़ दिया था, मेरी संपत्ति और वैभव भी नष्ट हो गये थे, शारीरिक बल भी नहीं रहा था तथा जंगल में यहाँ से वहाँ भटक रहा था तब किसी पुण्यकर्म के उदय से आपसे मुलाकात हो गई। मेरे लिये इतना ही काफी है। इन सब कन्याओं से क्या होनेवाला है? यह सुनकर सेठजी ने फिर से अनुरोध किया कि हे पुत्र! हमारे पास जो कुछ भी है वह सब तुम्हारा ही है, संकोच छोड़कर उसका भोग करो। जिसे चाहो उसको दो तथा जिस प्रकार की भी अभिलाषा हो उस प्रकार से उसका उपयोग करो; लेकिन अभी जो कहा–ऐसा मत कहो। पितातुल्य सेठ द्वारा उक्त कहे हुए वचन सुनकर विनम्रतापूर्वक कुमार ने कहा कि मैं मनचाहे खेल खेलता हूँ, शिक्षित शिष्ट पुरुषों के साथ ज्ञानगोष्ठी करता हूँ और इस तरह आनंद से समय बिता रहा हूँ। मेरे जीवन को यही ज्यादा रोचक है और मैं प्रसन्न हूँ तो फिर लग्न करने से क्या लाभ है? उससे मुझे मुक्त कीजिये।

इस उत्तर के आधार से सेठजी, कश्चिद्भट्ट के मन की बात समझ गये, इसलिए उन्होंने सोचा कि जैसा चल रहा है वैसा चलने दो। फिर सार्थपति यहाँ-वहाँ की मनोरंजक बातें करके वापस आये और अपने धर्म तथा कर्तव्यपालन में सावधानी से लग गये। इस घटना के थोड़े दिन बाद नगर के सभी वणिक श्रीमानों की पुत्रियाँ विहार के लिये उद्यान में गई हुई थीं। वहाँ उन्होंने बहुत आदर और भक्ति से कश्चिद्भट्ट को आमंत्रित किया था। जब वे वहाँ पहुँचे तब वे सब उत्तम कलश लेकर उनके पास खड़ी हो गईं और उनको सविनय निवेदन करने लगीं कि आप भी सेठ बनना स्वीकार कर लें। यह सुनते ही वरांग गंभीर सोच में डूब गये। विवेकी वरांग सोचने लगे कि देखो तो सही इन कर्मों की विचित्रता! यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा गजब का है! देखो, पहले जीवन

के शुरूआत मैं राजपुत्र था। फिर क्रम-क्रम से राजकुमार अवस्था पार करके युवराज अवस्था को प्राप्त हुआ और फिर मैं स्वयं राजा हुआ। वहाँ अचानक राजसिंहासन पर से नीचे गिरा और सीधा जंगल में, वहाँ से वापस अब सेठ। इन कर्मों की विचित्रता तो देखो, पूर्व-पुण्य के कारण राजा बना। पाप कर्म के उदय से जंगल में पहुँचा, फिर वापस पुण्य के उदय में सेठ बना, कहावत भी है –"कर्म से राजा, कर्म से रंक"।

अरे! केवली भगवान तो कहते थे कि यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है। जैसे कि पूर्व के पुण्यकर्म के उदय के निमित्त से मुझे राज्यपद नहीं मिला था परंतु पुण्यकर्म का उदय आने की उसी समय की योग्यता थी और उसी समय इस वरांगकुमार के राजा बनने का निश्चित योग था। पुण्यकर्म का उदय तो व्यवहार से निमित्त कहाता है, बस! वैसे तो सभी द्रव्य की प्रत्येक समय की योग्यता – तत्समय की योग्यता ही मुख्य कारण है।

परद्रव्य मुझे सुखी या दुःखी कर सकता ही नहीं। वास्तव में तो होता ऐसा है कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय का परिणमन अनादि से निश्चित है और मैं उस परिणमन में अनुकूल-प्रतिकूल की विपरीत कल्पना करके सुख-दुःख का अनुभव करता हूँ। लेकिन उस परद्रव्य का निश्चित परिणमन तो मेरे ज्ञान का ज्ञेय है और मैं जाननहार ज्ञाता हूँ, बस! अरे! केवली प्रभु ने ऐसा भी कहा था कि शुद्ध निश्चय से तो परद्रव्य को जाननेवाला इन्द्रियज्ञान–खंड-खंड ज्ञान है, वह भी परद्रव्य ही है; क्योंकि द्रव्येन्द्रिय के बिना उसका जानना होता नहीं और मैं तो स्वतंत्र–स्वाधीन ज्ञाता-दृष्टा पूर्ण परमात्मा हूँ। वास्तव में तो मैं ज्ञायक मुझे ही जानता हूँ और पर को जाने वह ज्ञान परद्रव्य है। आहाहा...! गजब वीतरागी सिद्धान्त।

गंभीर विचारों में मस्त वरांग को देखकर सेठों की पुत्रिओं को अनुपम पराक्रमी कश्चिद्‌भट्ट की विचारधारा पता चल गई और उन्होंने मिलकर मंगल कलशों द्वारा श्रेष्ठीपद की आवश्यक विधि पूर्ण कर ललितनगर के सेठों की प्रधानता का द्योतक पट्ट बांध दिया। इस तरह कश्चिद्‌भट्ट वणिकों के प्रधान बन गये।

अब हम उत्तमपुर का दृश्य देखें तो जब वरांग को घोड़ा उठाकर भागा था तब राजा धर्मसेन सहित अन्य राजा, शिष्ट राजपुत्र, समस्त मंत्री तथा सेनापति सहित सैनिक भी उस घोड़े का पीछा करते हुए बहुत दूर तक गये थे लेकिन घोड़े की गति बहुत ही ज्यादा होने से उस दुष्ट घोड़े को कोई नहीं पकड़ सका था। और सबको राज्य में खाली हाथ वापस आना पड़ा था। वरांग को शोधने में असफल सैनिक वापस आकर कहने लगे कि हे महाराज! वह दुष्ट घोड़ा इतना प्रबल और कुशिक्षित था कि उसे वश में करना असंभव था। उस घोड़े को विपरीत आचरण की ही शिक्षा देने में आयी थी। वापस आये हुए सैनिकों की बात सुनकर राजा ने अपने सभी चतुर और स्वामिभक्त मंत्रियों को बुलाया और कहा कि आप लोग अच्छी तरह से सोचो कि वर्तमान राजमंडल में ऐसा कौन अपना शत्रु है कि जिसने इस तरह वरांग का अपहरण कराया। या अपहरण अपने ही बीच में से किसी ने कराया है या किसी बाहर के शत्रु ने कराया है? इस तरह मंत्रियों को वरांग के अपहरण के विषय में खोज कराने की आज्ञा दी और स्वयं भी अपने अनेक दूत अनेक नगरों में भेज दिये।

कुमार वरांग की शोध के लिये गये हुए सैनिकों को कुए में पड़ा मरा हुआ घोड़ा मिला, लेकिन कुमार के अशुभ की आशंका का कोई चिह्न नहीं दिख रहा था। रास्ते में वरांग के वस्त्राभरण मिले। उन्होंने वापस आकर राजा धर्मसेन को सब समाचार दिये

तथा कुमार के मिले हुए वस्त्र और आभरण दिखाये। पुत्र की विपत्तिरूप हिमपात के कारण सर्वदा विकसित राजा का मुखकमल भी म्लान हो गया। उनके मुखकमल को देखकर उस कमल की याद आती थी कि जो कमल थोड़े ही समय पहले पूर्ण विकसित था लेकिन तुषारपात होने से थोड़े ही समय में श्रीहीन हो गया था। जैसे सर्प के मस्तक पर से मणि ले लिया जाय अथवा मदोन्मत्त हाथी का आगे का दांत तोड़ दिया जाय तो सम्पूर्ण बलिष्ठ शरीर स्वस्थ होने पर भी उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, उसी तरह सहज कांतिमान राज-पुत्र के अपहरण के बाद उन्हें सब कुछ कांतिहीन और निस्तेज प्रतीत होने लगा।

इसप्रकार महाराज की आज्ञा से कोई साहस करके अंतःपुर में यह समाचार देने गया। वहाँ जाकर महारानी गुणदेवी को कुमार के सब समाचार दिये। समाचार सुनते ही महारानी गुणदेवी 'हा पुत्र! तू कहाँ चला गया?' ऐसा कहकर बेहोश होकर भूमि पर गिर गई। उनको गिरते देखकर सब दासियाँ और दूसरी रानियाँ भी दौड़कर आ गईं तथा शीतोपचार द्वारा महारानी को सचेत करने लगी। थोड़ी देर बाद चेतना वापस आने से महारानी करुण रुदन करके कहने लगी कि हाय दैव! यह दुर्घटना मेरे ऊपर क्यों नहीं आई? हे पुत्र! तेरे बिना जीकर क्या फायदा? हे पुत्र! मेरे लिये तो तू ही तीन लोक के राज्य की प्राप्ति से मिलनेवाली प्रभुता और वैभव से भी बड़ा सुख था। हा! मैंने ऐसे पुत्र को खो दिया। अब तुझे याद करके कैसे जीऊँ? राज्यपद की प्राप्ति के लिए तेरा यह देदीप्यमान प्रतापी स्वरूप मैं कैसे भूलूँ? मैंने पूर्वजन्म में हिरनी के बच्चे को उसके माता-पिता से जुदा किया होगा। इस संसार में देहधारी जीवों को जन्म लेना कितना रक्षाहीन है। कितना अनित्य है, कितना भयंकर और सारहीन है उसका मैंने आज अच्छी तरह से अनुभव कर लिया। पूर्वभव में यह जीव अच्छे-बुरे जो भी कर्म बांधता है उन कर्मों के फल स्वरूप जीवों को सुख या

दुःख अवश्य ही भुगतना पड़ता है। उसे न कोई रोक सकता है और न कोई वश में कर सकता है। मनुष्य तो क्या लेकिन देव भी कर्म के उदय को नहीं टाल सकता।

इस तरह होनहार पुत्र का अकस्मात ही वियोग हो जाने से उत्पन्न हुए दुःख ने राजा-रानी के संताप को अंतिम सीमा से भी आगे पहुँचा दिया।

युवराज वरांग की अनुपमा आदि पत्नियाँ शील तथा स्वभाव में देवों के अधिपति इन्द्र की इन्द्राणी समान ही थीं। जब उनको समाचार मिले कि कोई दुष्ट घोड़ा हमारे स्वामी को लेकर भाग गया है तब वियोग की कल्पना से ही वे अथाग भयसमुद्र में डूब गई थीं, विषाद की तीव्रता के कारण विकसित तथा सुंदर मुखकमल म्लान हो गये, आँखों में से आँसुओं की धारा बहने लगी। वे हताश होकर यमराज को संबोधन करने लगी कि हे कृतांत! तू इतना निर्दयी है कि तुझे निश्चय से स्त्री-हत्या का दोष लगेगा, क्योंकि तूने हमें हमारे स्वामी से अलग किया है। अब या तो तू हमें वहाँ ले चल जहाँ पर हमारे स्वामी हैं या तो उनको हमारे पास वापस लेकर आ, अन्यथा यह निश्चय समझ कि तेरे ऊपर स्त्री-हत्या जैसे अधर्म दोष का टीका लगेगा। इस तरह वरांग के माता-पिता, पत्नियाँ तथा समस्त राज्य शोकाकुल होकर दुःखसागर में बहुत समय तक डूबे रहे। थोड़े समय बाद विवेक जागृत होने से धर्म ही एक शरण है ऐसा विश्वास करके – ऐसी श्रद्धा करके सभी धर्मकार्य में लग गये। राजा भी युवराज वरांग की शोध में मेहनत कर रहे थे।

इस ओर राजा वरांग ललितपुर में बाह्यसुख तथा आंतरिक दुःख का अनुभव करते हुए विचित्र अवस्था में सेठ सागरवृद्धि के आतिथ्य में दिन बिता रहे थे। उसी समय मथुरा नामक नगरी में इन्द्रसेन नामक प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। महाराज इन्द्रसेन

का उपेन्द्रसेन नामक ज्येष्ठ पुत्र कि जिसको अपने पराक्रम, सैन्य आदि का बहुत अभिमान था। उसकी आधीनता आस-पास के सभी सामंत राजाओं ने सामने से आकर स्वीकृत की थी। वह दोनों पिता-पुत्र सूर्य-चंद्र जैसे राज्य कर रहे थे। उनके सैन्य की समानता कोई नहीं कर सकता था। इन कारणों से वे अत्यंत उद्दंड हो गये थे। उनको अपने अनुचर द्वारा जानने मिला के ललितपुर के राजा के पास उत्तम हाथी है। उस हाथी की शक्ति का अनुमान करना कठिन था। वह हाथी इतना दृढ़ और विशाल था कि जैसे चलता-फिरता पर्वत ही हो। उस हाथी का नाम मधुप्रभ था। राजा इन्द्रसेन उस मधुप्रभ हाथी को ललितपुर के राजा से प्रेम से न मांगकर छीन लेना चाहता था। अपने अभिमान से उसने अपने एक दूत को पत्र लेकर ललितपुर भेजा।

दूत ने ललितपुर राज्यसभा में पहुँचकर इन्द्रसेन का पत्र दिया। पत्र पढ़ते ही देवसेन राजा बहुत ही क्रोधित हो गये, क्योंकि उस पत्र में कही भी 'सामनीति' का उपयोग नहीं हुआ था। पत्र पढ़ते ही देवसेन राजा के मान को ठेस पहुँचने से उन्होंने उस पत्र को नीचे फेंक दिया। तदुपरांत उस दूत का आधा सर मुंडवाकर कठोर शब्द कहे तथा कहा कि अपने राजा को जाकर कह दे कि अगर हिंमत हो तो युद्ध करके हाथी ले जाये। ललितपुर से आधा सर मुंडवाकर वापस आये हुए दूत को देखकर इन्द्रसेन के क्रोध की सीमा न रही। उसने बिना कुछ पूछे ही युद्ध की घोषणा कर दी और युद्ध की तैयारी करने लगा। राजा इन्द्रसेन के प्रस्थान के साथ ही सभी राजकुमारों के प्रधान उपेन्द्रसेन तथा अन्य समस्त राजाओं की बड़ी-बड़ी सेनाएँ युद्ध के लिए चल पड़ी। चलते-चलते उनको पता ही न चला कि वे कब शत्रु-देश में पहुँच गये। शत्रुसेना ने जैसे ही ललितपुर में प्रवेश किया कि रास्ते में जो कोई ग्राम आदि होता था उसको नष्ट करने लगे, लूटमार के कारण

सब लोगों ने प्रधान नगरी में शरण लिया। इन्द्रसेन ने चारों ओर से ललितपुर को घेर लिया।

ललितपुर को घिरा हुआ जानकर राजा देवसेन ने अपने मंत्रियों को बुलाकर कहा कि मैं जानता हूँ कि इन्द्रसेन का सैन्यबल अत्यधिक है। उसे पीछे धकेलना बहुत ही मुश्किल है। ऐसी स्थिति में मैं उसे हाथी भी नहीं देना चाहता तथा उसके साथ युद्ध भी नहीं करना चाहता और राज्य छोड़कर भागना भी नहीं चाहता। अब जो कुछ भी रास्ता हो वह आप सोचकर बताईये। लम्बी चर्चा के बाद विजय नामक मंत्री ने कहा कि इस समय युद्ध के सिवा दूसरा और कोई रास्ता नहीं है। कई दलीलों से विजय मंत्री ने राजा को समझाया, जिससे राजा देवसेन उसके ऊपर प्रसन्न हुए तथा युद्ध करने के लिए तत्पर होकर युद्ध की तैयारी करने की आज्ञा दी। विजय मंत्री चाहता था कि अपने राजा की जीत अवश्य ही होवे इसलिए उसने राजा की आज्ञापूर्वक समस्त नगर में घोषणा कराई कि जिसको राज-सन्मान प्राप्त करने की इच्छा हो अथवा जो लोग राज्य का गौरव बचाने के लिए अपनी संपत्ति का मोह छोड़ सकते हैं तथा जिन्हें अपने पुरुष होने का स्वाभिमान है वे सब शीघ्रता से महाराज की सेवा में हाजिर हों।

उस समय कश्चिद्भट्ट (वरांग) शत्रुसेना को देख रहे थे कि जिसने राजा को चारों ओर से घेर लिया था। राजा की ओर से की जानेवाली घोषणा सुनकर उसने सोचा कि जो दूसरों को विपत्ति के समय में मदद करता है वही सच्चा बंधु है। तदुपरांत महाराज देवसेन मेरे सगे मामा हैं और वे अभी शत्रु द्वारा सताये जा रहे हैं। सम्बन्धियों का कर्तव्य है कि अपना कोई सम्बन्धी विपत्ति में हो और स्वयं चाहे कितना भी दूर हो फिर भी उनकी सहाय के लिये आना चाहिए। फिर मुझे तो अपने कर्तव्य का ज्ञान है तथा मैं एकदम नज़दीक भी हूँ। अत: मुझे अवश्य ही मदद करनी

चाहिए। कश्चिद्भट्ट सोचते हैं कि यदि मैं अभी ऐसा कहूँ कि मैं उत्तमपुर के अधिपति महाराज धर्मसेन का पुत्र वरांग हूँ तो मेरा विश्वास कोई नहीं करेगा और मेरा अपमान होगा। यदि मैं वणिकों कि ओर से युद्ध करने जाऊँगा तो वणिकपुत्र कहलाऊँगा। इसलिए उसने सोचा कि यदि मैं ऐसा कहूँ कि मैं एक अज्ञात योद्धा हूँ और सब प्रकार के शस्त्र चलाने में कुशल हूँ तो उसमें कोई दोष नहीं है और मेरे प्रताप द्वारा मुझे पहचान लिया जायेगा—ऐसा विचार करके घोषणा सुनते ही वह बहुत ही उत्साह में आ गया और अपने पितातुल्य धर्मपिता सेठ सागरवृद्धि से निवेदन किया कि मैं महाराज देवसेन के साथ समरभूमि में जा रहा हूँ तो मुझे स्वीकृति देकर विदा करें।

कश्चिद्भट्ट के ऐसे वचन सुनकर धर्मपिता सागरवृद्धि आकस्मिक समाचार से कांपने लगे। उन्होंने कश्चिद्भट्ट को विनती की कि मैं आपकी शूरवीरता को जानता हूँ तथा मैंने अपनी आँखों से देखा है कि आपके जैसा पराक्रम किसी का नहीं है फिर भी यदि आप कोई लाभ प्राप्त करने युद्ध में जा रहे हो तो आपको जो कुछ भी चाहिए वे सब सुख सामग्री मैं आपको दे सकता हूँ। अपने घर में असंख्य कोटि सुवर्ण पड़ा है इसलिए हे वत्स! तुझे जो भी चाहिए और जैसे चाहिए वैसे भोग का उपभोग करो, लेकिन इस युद्ध में जाने का निश्चय छोड़ दो। प्रवास दरम्यान भील के साथ का दारुण युद्ध याद करते ही मैं कांपने लगता हूँ। फिर युद्ध करने से क्या लाभ है?

धर्मपिता द्वारा उक्त प्रकार का निषेध होने से कश्चिद्भट्ट ने सखेद सोचा कि ये यह साधु स्वभावी सेठ शारीरिक तथा मानसिक बल से हीन हैं। बेचारे अपने जाति के अनुकूल संस्कारों से भरे हैं और वैसी ही बातें करते हैं। मुझे भी वे अपनी जाति का ही समझ रहे हैं। कश्चिद्भट्ट ने कहा कि हे पिताजी! न तो मुझे

संपत्ति का ही प्रयोजन है और न ही मुझे राज्य से कोई मतलब है। मैं तो केवल संकट में पड़े हुए स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, आश्रमनिवासी साधु तथा आर्यिकाओं और श्रावक-श्राविकाओं की रक्षा के लिए यह युद्ध करने जाना चाहता हूँ। प्रजा का कल्याण करने में राजा देवसेन की परिपूर्ण विजय देखने की इच्छा से, आपका यश बढ़ाने के अभिप्राय से तथा अपना कर्तव्य पूरा करने की प्रेरणा से ही मैं समरभूमि में जा रहा हूँ। इसलिए आप मुझे जाने के लिये स्वीकृति प्रदान करें।

सागरवृद्धि सेठ ने पुत्र का दृढ़ निश्चय जानकर उसे स्वीकृति दी तथा स्वयं कश्चिद्भट्ट की ओर से राजा के पास प्रस्ताव लेकर गये, उन्होंने जाकर राजा से कहा कि हे महाराज! मेरा पुत्र आपकी ओर से युद्ध करना चाहता है अतः आपको जैसा ठीक लगे वैसा कीजिये। विजय आदि मंत्रियों ने कश्चिद्भट्ट के बारे में पहले से ही काफी सुना हुआ था। उन्होंने महाराज से कहा कि कश्चिद्भट्ट के बारे में हम पहले से ही जानते हैं। उस अकेले ने ही भीलों की बारह हजार प्रमाण सेना को हराया था। इसलिए वह इस वणिक सेठ का पुत्र नहीं हो सकता। उसमें वणिक होने का एक भी लक्षण नहीं है। इसलिए आपके साथ वह कश्चिद्भट्ट शत्रुओं को अवश्य जीतेगा ही, इसमें कोई संदेह नहीं।

ऐसा सुनकर राजा ने आनंदोत्साह से कहा कि युद्ध के लिए विजयभेरी बजवाओ कि जिससे शत्रुओं के हृदय कांप उठे। तदनन्तर विजयभेरी बजवाई तथा सबके साथ मंत्रणा करके कश्चिद्भट्ट को बुलवाया। राजा का आमंत्रण प्राप्त करके कश्चिद्भट्ट के हर्ष की कोई सीमा न रही। वह तुरंत ही अपने समवयस्क मित्रों के साथ राजसभा में पहुँच गया। कश्चिद्भट्ट और महाराज देवसेन एक दूसरे को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए। महाराज उसके शरीर पर अंकित शुभ लक्षणों को देखकर बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति

भूपाल तथा उसके शासन विरुद्ध आचरण नहीं करता, राष्ट्र तथा राजा के विकासमय जीवन में उपस्थित हुए अनर्थों को शांत करता है, घनघोर संग्राम में सब ओर से आक्रमण होने पर भी जिसका धैर्य और कर्तव्यबुद्धि अस्त नहीं होती, जो अकस्मात ही कहीं से आकर युद्ध में सहाय करता है वही सच्चा बंधु है, वही पुत्र है, वही मित्र है और वही श्रेष्ठ गुरु भी है। यदि मैं मेरे पुण्यकर्म के प्रभाव से या आपके सौभाग्य से या राज्य में बसनेवाले सज्जनों के शुभ कर्मों के कारण इस युद्ध में शत्रु सेना को जीतकर वापस आऊँगा तो मेरी पुत्री के साथ आधा राज्य भी तुझे दे दूँगा।

इसप्रकार अपने अनुराग को वचन द्वारा प्रगट करके ललितेश्वर ने रत्नों का हार, मुकुट, केयूर, कुंडल, कमरबंध तथा पद का सूचक पट्ट भी बांधा। तदनन्तर महाराज ने आज्ञा की कि सब लोग शीघ्रातिशीघ्र युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। समरयात्रा के समय मदोन्मत्त हाथी पर बैठे हुए महाराज देवसेन ऐसे लग रहे थे कि जैसे ऐरावत हाथी के ऊपर इन्द्र! मधुप्रभ नामक हाथी के ऊपर सब शस्त्रों सहित कश्चिद्‌भट्ट बैठा था। हाथी पर बैठा कश्चिद्‌भट्ट ऐसा लग रहा था कि मानों प्रातःकाल का सूर्य ही उदयाचल पर उदित हुआ हो। दोनों सेनाएँ युद्धस्थल में आमने–सामने आ गईं। अत्यंत क्रोध के कारण जैसे ही शंखनाद हुआ वैसे ही दोनों सेना के योद्धा एक दूसरे पर टूट पड़े। दोनों सेनाएँ एक दूसरों पर भयंकर आक्रमण करके युद्ध कर रहे थे। दोनों सेना के भट्ट स्वामीभक्त थे। अपने-अपने महाराज की विजय के लिए प्रतिज्ञा कर चुके थे। अपने-अपने राजा के प्रति राग तथा शत्रु राजा के प्रति द्वेष से पूर्ण थे। इसलिये अत्यंत वेग से परस्पर एक दूसरों के अंग काट-काट कर फेंक रहे थे। इस तरह दोनों सेनाओं के बीच में घमासान युद्ध चालू हो गया।

मथुराधिपति इन्द्र के साथ जितने राजा थे उसमें से ज्यादातर

तो अर्थ के लोलुपी थे। इन राजाओं को महाराज देवसेन ने अर्थ का लालच देकर अपने वश में कर लिया और इन्द्रसेन से विरुद्ध करके उसका थोड़ा बल तो ऐसे ही कम कर दिया। महाराज देवसेन इन्द्रसेन को व्यक्तिगत युद्ध में हराना चाहते थे इसलिए उसने ऐसी व्यूह रचना की, कि जिसे किसी भी ओर से तोड़ना असम्भव था। विजय मंत्री की सेना ने थोड़ी ही देर में उपेन्द्र की सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यह देखकर उपेन्द्र अति रौद्ररूप धारण करके विजय मंत्री की सेना के ऊपर टूट पड़ा। उपेन्द्र के आक्रमण से विजय परास्त जैसा हो गया। यह देखकर कश्चिद्भट्ट उसके सामने आया और उपेन्द्रसेन के साथ युद्ध करने लगा। कश्चिद्भट्ट निर्दयतापूर्वक शत्रु सेना का संहार कर रहा था। उसे देखकर उपेन्द्रसेन ने हंसते-हंसते कहा कि हे भद्र पुरुष! ललितेश्वर के आधे राज्य से तेरा क्या फायदा? राज्य करना तेरे वंश में अनुचित है। सुलक्षणा को प्राप्त करके भी तू क्या करेगा? वो भी कालरात्रि समान है। यहाँ यह राजा राजा के साथ युद्ध करता है इसलिए इस युद्ध में तू शामिल होने लायक नहीं है क्योंकि तू सार्थपुत्र है। अब तू यहाँ से जल्दी से भाग जा और अपने प्राणों की रक्षा कर।

उपेन्द्रसेन के ऐसे वचन सुनकर कश्चिद्भट्ट का हृदय विक्षत हो गया। इसलिए उसने अत्यंत क्रोधित होकर कहा कि मैं तो जो हूँ सो हूँ या तू जो मान रहा है वह हूँ लेकिन उससे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं आज उस हाथी पर बैठा हूँ जो तुझे चाहिये था। अब मैं इसी हाथी पर बैठकर तुझे और तेरे पिता को यमलोक पहुँचाऊँगा इसमें कोई शंका नहीं। कश्चिद्भट्ट के वचन सुनकर उपेन्द्रसेन भी क्रोध से आग-बबूला हो उठा तथा दोनों एक-दूसरे के सामने अपने हाथिओं को लाकर घोर युद्ध करने लगे। एक-दूसरों पर बाणों की वर्षा करने लगे। दोनों योद्धा एक-दूसरे के

हाथी को भी मारते थे लेकिन कश्चिद्भट्ट के हाथी को ज्यादा घाव नहीं लगे जब की उपेन्द्रसेन के हाथी का एक दांत टूट गया तथा कश्चिद्भट्ट द्वारा चक्र लगने से उसके अंग कटने लगे थे। उपेन्द्रसेन कश्चिद्भट्ट के ऊपर और कश्चिद्भट्ट उपेन्द्रसेन के ऊपर तोमर, बाण, चक्र, भाला आदि अनेक शस्त्र फेंककर घमासान युद्ध कर रह थे। तदनन्तर कश्चिद्भट्ट ने इतने जोर से चक्र फेंका कि उपेन्द्रसेन का एक हाथ कट गया फिर भी एक मुहूर्त तक उसने कश्चिद्भट्ट के साथ युद्ध किया। अंत में कश्चिद्भट्ट ने उपेन्द्रसेन की छाती में शक्ति मारी और तुरंत ही उसके ऊपर कूदकर उसका सिर छेद डाला। उपेन्द्रसेन के प्राणपखेरु उड़ गये और उसके कितने ही सैनिक मर गये तथा कितने ही कश्चिद्भट्ट से डरकर भाग गये।

इसप्रकार घोर युद्ध होते हुए मथुराधीश तथा ललितेश भी आमने-सामने आ गये। एक-दूसरे को देखकर उनके मुख विकृत हो गये। जंगल में यौवन के उन्माद से दो मत्त भीमकाय हाथी समान, समर में लड़ने की अभिलाषा से वे दोनों एक-दूसरे के अति निकट जा रहे थे। वज्र समान अभेद, अग्नि समान दाहक तथा विष समान मारक अनेक आकृति के शस्त्रों द्वारा अत्यंत त्वरा से दोनों ने एक-दूसरे पर प्रहार करना शुरू कर दिया। इस समय दोनों के हाथ-पैर घायल हो गये थे। देवसेन ने चक्र उठाकर मथुरा के राजा पर छोड़ दिया। उस प्रहार से ललितेश्वर ने शत्रु के हाथी को ही मार डाला कि जिसके ऊपर बैठकर शत्रु युद्ध कर रहा था। अचानक उपेन्द्र की मृत्यु के समाचार सुनते ही इन्द्रसेन का क्रोध ज्वाला की तरह बढ़ने लगा। अचानक ही युद्ध का स्वरूप बदलने लगा। इन्द्रसेन ने अकेले ही अपने अनेक शत्रुओं को मार गिराया। देवसेन भी इन्द्रसेन के प्रहार से दबने लगा। देवसेन को दबा हुआ देखकर कश्चिद्भट्ट इन्द्रसेन की ओर आया और उसके साथ भयंकर युद्ध करने लगा। कश्चिद्भट्ट को युद्ध में सामने आया

जानकर इन्द्रसेन के क्रोध की कोई सीमा न रही, क्योंकि कश्चिद्भट्ट ने ही उपेन्द्रसेन को यमलोक पहुँचाया था तथा उसके हाथी को भी मारा था। क्रोध में आकर दोनों ही एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा करने लगे, क्योंकि दोनों ने अपने शत्रु को मारने की प्रतिज्ञा कर ली थी। कश्चिद्भट्ट बहुत ही तेजी से एक के बाद एक बाणों की वर्षा करता था। उसके बाण से इन्द्रसेन का धनुष टूट गया। जब तक इन्द्रसेन दूसरा धनुष उठाये उतनी देर में तो कश्चिद्भट्ट ने अपने बाणों की वर्षा से इन्द्रसेन का हाथ मूल से ही काट दिया और बाणों के घाव से जर्जरीत कर दिया। इन्द्रसेन के सभी सैनिक डर के मारे यहाँ-वहाँ भागने लगे। ऐसी हालत में इन्द्रसेन की बुद्धि ने काम करना बंद कर दिया। वह बहुत ही डर गया था। वह हाथी ऊपर से नीचे उतर कर घोड़े पर बैठकर वापस भागने लगा। उसे भागता देख कश्चिद्भट्ट को उसके ऊपर दया आ गई और उसे भागने दिया। इन्द्रसेन के भागने से उसका सैन्य भी अस्त-व्यस्त हो गया।

महामतिमान कश्चिद्भट्ट समस्त शत्रुओं को पूर्ण पराजित करके अपने तेज के कारण मध्याह्न के सूर्य के समान प्रकाशित हो रहा था। युद्ध समाप्त होने पर कश्चिद्भट्ट ने राजा देवसेन के पास आकर कमल समान उनके शुद्ध चरणों में अपना सिर झुकाकर प्रणाम किया। महाराज देवसेन ने तुरंत ही उठाकर उसे अपनी छाती से लगा लिया। उस समय महाराज का मन सुख सरोवर में गोते खा रहा था। उन्होंने कश्चिद्भट्ट से कहा कि हे आर्य! मैंने आपके पराक्रम को अपनी आँखों से देखा है। आपके समान अन्य कोई पराक्रमी इस पृथ्वी पर हो ही नहीं सकता। तदनन्तर सेठ सागरवृद्धि का बहुत ही सन्मान किया और कश्चिद्भट्ट को हाथी के ऊपर बिठाकर उसके ऊपर राजाओं के योग्य छत्र लगवाया। फिर सब ने बहुत ही उत्साह से राजधानी में प्रवेश किया। कश्चिद्भट्ट को उत्तम हाथी पर बैठकर विजयी हुए आते

देखकर नगर निवासी बहुत ही खुश थे तथा उसे आशीर्वाद दे रहे थे। सार्थपति सागरवृद्धि भी महाराज देवसेन के साथ उत्तम हाथी पर बैठकर नगर में प्रवेश कर रहे थे।

तदनन्तर राजा ने सबका यथायोग्य सन्मान किया। महाराज ने कश्चिद्भट्ट तथा सार्थपति का विशेष सन्मान किया। उसके बाद सभी अपने-अपने घर गये। संग्राम से आने के एक दिन बाद ज्ञानी वृद्ध पुरुषों के साथ शांति से बैठकर महाराज देवसेन अपनी पुत्री के विवाह के विषय में चर्चा कर रहे थे। निर्णय होने के बाद उन्होंने कश्चिद्भट्ट को बुलाया। जब कश्चिद्भट्ट आ गया तब राजा ने सस्नेह पूछा कि अगर तुम्हें ऐतराज न हो तो मैं तुम्हारे माता-पिता के बारे में जानना चाहता हूँ। हे वत्स! तुम कांतिमान हो, तुम्हारा तेज और सामर्थ्य असीम है तथा विज्ञान के साक्षात् भंडार हो। तुम्हारी इन योग्यताओं के कारण ही तुम्हारी विशाल कीर्ति सभी दिशाओं में फैल गई है। इन सद्गुणों के कारण मुंह में से निकल ही जाता है कि तुम्हारे माता-पिता धन्य है। तुम्हें यदि विशेष विरोध न हो तो अपने वंश के बारे में बताओ।

कश्चिद्भट्ट सामनेवाले के मन के अभिप्राय को अच्छी तरह से समझता था इसलिए वह महाराज का अभिप्राय समझ गया लेकिन अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करने में उसे संकोच होने से उसने अपने विषय की वास्तविकता को छिपाकर कहा कि महायशस्वी अनुपम वीर कश्चिद्भट्ट ललितपुर के सार्थपति सागरवृद्धि का ज्येष्ठ पुत्र है और यह बात समस्त नगर जानता है और मैं भी यही कहता हूँ कि वही मेरे सर्वोत्तम सम्बन्धी और पूज्य पिता है। हे महाराज! इस धरती पर मेरे दूसरे कोई पिता नहीं ऐसा आप निःसंदेह समझिये। आपके प्रश्न पूछने की शैली से मैं आपके हृदय के अभिप्राय को समझता हूँ। मैं जानता हूँ कि मुझसे मेरे वंश, कुल के बारे में पूछने का कारण आपकी पुत्री है क्योंकि पुत्री के

लग्न प्रसंग पर वर के वंश के बारे में जानना तो जरूरी ही है परंतु आपकी रूप-गुणवती पुत्री आपके घर में ही रहे; क्योंकि वर्तमान परिस्थिति में मैं विवाह करने की अवस्था में नहीं हूँ लेकिन आप निश्चित समझिये कि मैं वणिकपुत्र ही हूँ।

भरी सभा में कश्चिद्‌भट्ट के वचन सुनकर, इतना बड़ा सुअवसर का भी त्याग करके भी उसकी आंतरिक और बाह्य प्रसन्नता को लक्ष में रखकर महाराज देवसेन ने समझदारी पूर्वक कहा कि युद्ध पहले आज के जैसी ही भरी सभा में मैंने स्पष्ट घोषणा की थी कि यदि तेरे प्रताप से मैं मथुराधीश इन्द्रसेन को हराऊँगा तो मैं अपनी प्राणों से भी प्यारी सुलक्षणा से तेरा विवाह कराऊँगा और साथ में आधा राज्य भी दूंगा। इसप्रकार की घोषणा करने के बाद अब उस बात के लिये तुम्हारा इच्छानुसार विचार करना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। राज्यसभा में जो घोषणा करने में आई हो उसके विपरीत तो क्या, लेकिन उससे थोड़ा कम भी कार्य करना वह राजाओं को शोभा नहीं देता। इसप्रकार वार्तालाप करने के बाद राजा ने कश्चिद्‌भट्ट को अपनी पुत्री देने का निश्चय कर विवाह का दिन तय किया तथा समस्त नगर को अच्छी तरह से सजवाया। अपनी पुत्री का विवाह धूमधाम से कश्चिद्‌भट्ट के साथ करने के बाद उसे आधा राज्य भी दिया। इसप्रकार विवाह के बाद वर-वधू को विदा के लिये बहुत ही मूल्यवान पालकी में बिठाकर सागरवृद्धि के घर पहुंचाया। सार्थपति के घर उन नवदंपत्ति का बहुत ही धूमधाम से स्वागत हुआ तथा अठारह दिन तक उत्सव किया।

पूर्व में उपार्जित पुण्य के फल को भोगनेवाला कश्चिद्‌भट्ट इन सब में फँसकर अपने पहले के बंधु-बांधवों को भूल गया था तथा नूतन सगे-सम्बन्धियों में घिरा रहकर प्रसन्नता से समय व्यतीत करता था, कश्चिद्‌भट्ट ने अपनी नई पत्नी राजपुत्री के साथ प्रसन्नता से

बहुत समय व्यतीत किया। एक दिन की घटना है कि कश्चिद्भट्ट महाराज देवसेन के साथ योग्य सेवा आदि जानने के लिए अंतःपुर में प्रवेश कर रह थे। संयोगवश सहजभाव से मनोरमा नामक किसी राजपुत्री ने उनको देखा। कश्चिद्भट्ट के शुद्धरूप और परिपूर्ण यौवन को देखकर उस राजपुत्री का मन उन पर आ गया। फिर क्या था! वह अपनी दैनिक क्रिया में भी प्रमाद करने लगी क्योंकि प्रेमपीड़ा से अनभिज्ञ वह भोली राजकुमारी कामदेव का प्रहार सहन न कर सकी। उसकी हरकतों के कारण उसकी सखियाँ भी समझ गई थी कि उसे कामदेव सता रहे हैं।

राजनंदिनी नामक दासी उसके मनोभावों को समझ गई, इसलिए उसने मनोरमा से कहा कि हे सखी! तू क्यों अपनी तकलीफों को सहन कर रही है? कब तक अपने मन में रख सकेगी? मुझे कहेगी तो मैं जरूर तुझे मददरूप होऊंगी। यह बात सुनकर मनोरमा ने कहा कि हे सखी! मुझे तेरा ही एक सहारा है। जब मैंने महाराज के साथ कश्चिद्भट्ट को अंतःपुर में आते देखा तब से मुझे कहीं और चैन नहीं पड़ रहा है। तू किसी भी उपाय से मुझे उनसे मिला दे। हे सखी! तू शीघ्रातीशीघ्र मेरे इस कामदाह को शांत कर। कमलाक्षी राजकुमारी के भाव जानकर उस सखी ने कहा कि आर्या! जितने भी उपाय संभव है उन सभी उपायों द्वारा मैं तेरे मनोगत कार्यों को पूर्ण करूँगी। थोड़े ही समय में वह कुशल सखी किसी को मालूम न हो इस तरह कश्चिद्भट्ट को एकांत में जाकर मिली तथा उसने मनोरमा की प्रेमगाथा सांगोपांग कह सुनाई।

परम सुंदर तथा लक्ष्मीवान कश्चिद्भट्ट सखी के वचन सुनकर ही समझ गया था कि उसका प्रस्ताव अनैतिक और अनेक दोषों से सहित है। वह व्रती होने से इसप्रकार के विषयों में मेरु समान अडिग थे। उन्होंने अत्यंत विनम्रतापूर्वक कहा कि तुम्हारा प्रस्ताव सर्वथा

अनुचित है। देवी! तुम्हारा प्रस्ताव किसी भी दृष्टि से युक्त नहीं। ऐसा करने से जरा भी शोभा नहीं रहेगी। तदुपरांत वरदत्त केवली ने अत्यंत अनुग्रह करके मुझे स्वदार-संतोषव्रत ग्रहण कराया है।

कश्चिद्भट्ट की बात सुनकर सखी बोली कि आप अनुपम सुंदरी मनोरमा के ऊपर इसलिये अनुग्रह नहीं कर रहे, क्योंकि आपने केवली के पास व्रत ग्रहण किये हैं? यदि ऐसी बात है तो मैं आपको जरा भी बुद्धिमान नहीं समझती। हे वीरवर! प्रत्यक्ष रूप से सामने उपस्थित फल को छोड़कर आप परोक्ष स्वर्गसुख की इच्छा रखते हो इसलिए आप मेरी दृष्टि में मूर्ख ही हो। ऐसे भी व्रतों के पालन से स्वर्ग ही मिलता है और स्वर्ग का सार भी देवकन्या ही है तो फिर इतना कठोर व्रत धारण करके भविष्य में कन्या का सुख प्राप्त करो, इसके बदले देवकन्या से भी अधिक सुंदर मनोरमा को अभी अनुग्रहित करना ज्यादा योग्य है।

कश्चिद्भट्ट ने मर्यादापूर्वक उससे कहा कि इस संसार में जो शुद्ध आत्मा शीलव्रत को पालन करनेवाला है तथा जो, किसी भी परिस्थिति में होने पर भी धारण किये हुए व्रत से चलित नहीं होता वह समस्त संसार में आज भी पूज्य है। ऐसे चारित्रनिष्ठ आत्मा ही दूसरे भव में देव, असुर तथा मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर निरंतर सतत तथा संपूर्ण लौकिक सुख प्राप्त करते हैं। जो शीलव्रत को धारण करता है वह समुद्र में डूबने पर भी नहीं मरता, अग्नि की ज्वाला भी उसे जला नहीं सकती, देवों में भी इतनी शक्ति नहीं कि उसका अपमान कर सकें। तथा संसार के सभी विघ्न उसके मार्ग में आकर भी स्वयमेव ही नष्ट हो जाते हैं।

दूसरी ओर देखें तो जिन्होंने अपना शील नष्ट किया है वे इसी भव में स्थान-स्थान पर अपमानित होते हुए नाना प्रकार के अनेक दुःख उठाते हैं और अगले भव में भी वह मूर्ख नरक में

उत्पन्न होता है तथा हे भद्रे! वहाँ भयंकर से भी भयंकर दुःख प्राप्त करता है, इस बात में जरा भी संदेह नहीं है। अपने समाज में जो कोई शील की मर्यादा तोड़ता है वह शासकों के द्वारा बहुत बड़े दंड का पात्र बनता है। यह सब सहन करके भी किसी रूप में वह हो भी तो क्या ? क्योंकि यश और दूसरा भव तो बरबाद हो ही गया न! मुझे ही देखो तो मैं स्वयं ही थोड़े समय पहिले शीलव्रत के प्रताप से ही एक भयंकर मगर से बचा हूँ। यही सब कारण है कि जो मुझे ग्रहण किये हुए व्रत को तोड़ने के लिये असमर्थ कर देते हैं। मैं यह भी नहीं भूल सकता कि मैंने किसी साधारण व्यक्ति के पास व्रत ग्रहण नहीं किये, परंतु साक्षात् केवली के पास यह व्रत ग्रहण किये हैं। ज्यादा से ज्यादा मैं इतना कर सकता हूँ कि यदि राजकुमारी के पिता महाराज देवसेन आज्ञा दें तो उनकी पुत्री को धार्मिक विधि-विधान से ग्रहण कर सकता हूँ। ऐसा किये बिना यदि मैं कन्या को ग्रहण करूँ तो उससे सर्वसाधारण में होनेवाले अपमान को मैं सहन नहीं कर सकता, क्योंकि वह यहीं नहीं, बल्कि परलोक में भी हितकारी नहीं होगा।

जब कश्चिद्‌भट्ट ने इन युक्तियों द्वारा मनोरमा की सखी को समझाया तब उससे किसी भी बात का विरोध नहीं किया जा सका। इसलिए वह उसके पास से वापस आई और सीधा राजपुत्री के पास पहुँची। राजपुत्री को सांत्वना देते हुए कहा कि हे राजपुत्री! तूने मुझे जो कुछ भी कहा था वह मैंने तेरे प्रियतम से कह दिया है और वह तेरे अनुकूल भी है। इसलिए हे सखी! तेरी सखियों के साथ तू आनंदपूर्वक समय व्यतीत कर और अपना पूरा श्रृंगार कर। तू दो-तीन दिन में ही अपने प्रियतम के पास पहुँच जायेगी। मनोरमा ने कहा कि मुझे पता है कि मुझे सांत्वना देने के लिये ही तू ऐसा बोल रही है ऐसा कहकर वह बहुत रुदन करने लगी। उसने कहा कि जब तक मुझे कश्चिद्‌भट्ट की प्राप्ति नहीं होगी तब

तक मुझे कहाँ शांति मिलनेवाली है? उस समय उस राजदुलारी की ऐसी अवस्था थी, जैसी अवस्था उस लता की होती है, जिसके पास भभकती हुई अग्नि की ज्वाला उसके आगे के पत्तों को जलाती हुई आगे ही आगे बढ़ती जाती है।

वह सोचती है कि यदि मेरा इस जन्म में कभी भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश होना हो तो उन सम्यग्दृष्टि कश्चिद्भट्ट के साथ ही मेरा विवाह होवे। यदि मुझे किसी पुरुष के पास जाना हो तो वह कश्चिद्भट्ट ही हो। यदि ऐसा होना अशक्य हो तो रत्नत्रय की उपासना करना वही मेरे जीवन का लक्ष्य है। श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। वह धर्म स्वर्ग-मोक्षरूपी उन्नत स्थान पर पहुँचने के लिए सुखकर सीढ़ी समान है - ऐसा दृढ़ निर्णय करके वह अपने धारण किये हुए व्रतों का ध्यान कर अपने प्रेमी का इन्तजार करती हुई पड़ी थी। ऐसी दशा देखकर आस-पास के प्रियजनों को बहुत चिंता होने लगी।

इसी दौरान दूसरी ओर राजा वरांग का दुष्ट घोड़े द्वारा अपहरण होने से धर्मसेन राजा बहुत ही चिंतित थे। सभी मंत्रियों ने विचार-विमर्शपूर्वक राजा की प्यारी पत्नी के पुत्र सुषेण को ही राज्य पद देने का निश्चित किया और राजा की सम्मति से उसे राज्य सोंप दिया। राजपुत्र सुषेण को जैसे ही राज्यपद मिला कि उसका मुख पूर्ण विकसित नूतन कमल के जैसा हो गया। उसका चित्त राज्य सम्बन्धी दायित्वों की अपेक्षा विषयभोग और रंगराग में अधिक आकृष्ट था, इसलिए वह थोड़े समय से ज्यादा अपने राज्य को उपद्रव आदि अनर्थों से नहीं बचा सका और स्वयं भी आनंदपूर्वक अधिक दिन नहीं बिता सका।

एक दिन राजा सुषेण को समाचार मिले के उसके राष्ट्र पर किसी शत्रु की सेना ने आक्रमण कर दिया तथा वह शिष्ट एवं सज्जन नागरिकों का अपमान कर रहा है। यह सुनते ही वह तुरंत

ही संग्राम करने का निर्णय करके सेना को लेकर स्वयं ही शत्रु का सामना करने चल पड़ा। सुषेणने शत्रु के साथ घोर युद्ध किया, लेकिन शत्रु राजा ने क्रोध में आकर सुषेण की सेना पर प्रति आक्रमण करके उसे चारों ओर से घेर लिया। इस वजह से उत्तमपुर की अजेय सेना का अनुशासन टूट गया और उनका सैन्यदल यहाँ-वहाँ भागने लगा। सुषेण अंत में शत्रु से हार गया और एक घोड़े पर बैठकर भागकर अपनी राजधानी में चला गया। शत्रु सेना की मार से अपने पौरुष और पराक्रम को धूल में मिलाकर कायर की तरह राजधानी में भागकर आनेवाले अपने पुत्र को देखकर महाराज धर्मसेन को अपने पुत्र वरांग की याद आ गई। वह मन ही मन में वरांग के पराक्रम को याद करते और दुःखी होते।

शत्रु राजा को जब यह समाचार मिले कि भय के कारण सुषेण समरागंण से भाग गया है और महाराज धर्मसेन वृद्धावस्था के कारण अत्यंत दुर्बल है तो वह उत्तमपुर की विशाल अश्व, रथ तथा गजसेना, अत्यंत विस्तृत देश तथा विपुल धनराशी से परिपूर्ण कोष लेने के लोभ से न बच सका। फल स्वरूप उसने शीघ्रता से राजधानी की ओर आगे बढ़ना शुरू किया। इसप्रकार आगे बढ़ते समय उसकी सेना ने आधे उत्तमपुर राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया तथा महाराज धर्मसेन को दूत के साथ पत्र द्वारा संदेश भिजवा दिया कि आज से उत्तमपुर का जीता हुआ हिस्सा हमारा हो गया। हम यहाँ तक अपने राज्य की नई सीमारेखा घोषित करते हैं। शत्रु के कठोर तथा अशिष्ट वचनों से भरा पत्र पढ़कर महाराज धर्मसेन क्रोध के आवेश से लाल हो गये। उसने क्रोध में आकर कहा कि उसके वंश में क्रम से चली आई राज्यभूमि की सीमा जितनी निश्चित है, उतनी ही भूमि में वह रहे तो ठीक है अन्यथा यदि वह इस समय अहंकार में पागल होकर उतने ही राज्य में संतुष्ट नहीं होगा तो मैं निश्चय से उस अहंकारी को युद्ध में मारूँगा और उसके कुलक्रमागत राज्य को भी किसी दूसरे ऐसे

राजा को सौंप दूँगा कि जो मेरी आज्ञा में रहेगा। इस तरह क्रोधावेश में दूत को कहकर भेजा और पीछे ही अपनी चतुरंग सेना लेकर निकल पड़ा।

उन्होंने एक योजन आगे चलकर विश्राम के लिए पड़ाव डाला। वहाँ उनके मुख्यमंत्रियों ने इकट्ठा होकर अतिविनयपूर्वक महाराज के समीप जाकर उनके हित की भावना से प्रेरित होकर निवेदन किया कि हे महाराज! जहाँ तक आपके पराक्रम और शक्ति की बात है तो उसे तो समस्त संसार जानता है तथा आज तक किसी ने उसका उल्लंघन नहीं किया। इसलिए आप से निवेदन का कारण यह है कि इस समय हम प्रतिशोध लेने की पूरी तैयारी के साथ नहीं आये हैं। यद्यपि आपका शत्रु सैन्य ज्यादा नहीं है, तथापि आप उसे जीतने के लिए अपने मित्र राजाओं को बुला कर इकट्ठा करले। शत्रुओं के मान का मर्दन करनेवाला ललितपुर नामक नगरी का प्रसिद्ध राजा देवसेन आपका परम मित्र ही नहीं, लेकिन सम्बन्धी भी है इसलिए दूत को तत्काल भेजकर समाचार भेजिये कि जिसे पढ़कर वे तुरन्त ही यहाँ ससैन्य पधारें। मंत्रियों की न्याय और युक्ति संगत बात सुनकर राजा धर्मसेन ने कहा कि आप उन्हें शीघ्र संदेशा भिजवाओ।

महाराज धर्मसेन का दूत तुरन्त ही ललितपुर पहुँचा और राज्यसभा में पहुँचकर अपने राजा का पत्र महाराज देवसेन को दिया। महाराज देवसेन ने उस पत्र को पढ़ा और पढ़ते ही सब परिस्थिति समझ गये। वे तुरन्त ही दूसरे एकान्तगृह में गये और वणिक राजा कश्चिद्भट्ट को बुलाकर वरांगकुमार का घोड़े द्वारा अपहरण से लेकर दुश्मनों द्वारा आक्रमण तक की सभी बातें कहीं। राजा देवसेन ने कहा कि हे कश्चिद्भट्ट! आप पूर्णरीति से इस राजधानी तथा पूर्ण राज्य को उपद्रवों से मुक्त करके रक्षा करते हुए यहीं रहो। मेरे मित्र तथा सम्बन्धी पर विपत्ति आई होने

से मैं उनकी मदद के लिये जाना चाहता हूँ। महाराज देवसेन के इस निर्णय को सुनते ही कश्चिद्भट्ट बोल पड़े कि हे गुणसागर! सामने रखा हुआ पत्र पिताजी ने भेजा है उसे ध्यान से देखिये।

महाराज देवसेन ने फिर से पत्र पढ़ा। जैसे-जैसे पत्र पढ़ते गये वैसे-वैसे कश्चिद्भट्ट की आँखों में से आंसू की धारा बहने लगी उसे देखकर महाराज समझ गये कि यह कश्चिद्भट्ट ही कुमार वरांग हैं। उन्होंने तुरन्त ही खड़े होकर वरांग को छाती से लगा लिया। महाराज ने वरांग से कहा कि हे कुमार! मेरी सो पुत्रियाँ हैं जिन्हें आप ग्रहण करो। युवराज वरांग ने महाराज के प्रस्ताव को सुनकर कहा कि मैं आपकी एक सुलक्षणा पुत्री से ही परम संतुष्ट हूँ। ललितेश्वर को अपने जमाई के वचन सुनकर मात्र आनंद ही नहीं होता था बल्कि वे उनकी बात भी मानते थे। इसलिए उन्होंने वरांग को बीच में ही रोकते हुए कहा कि जैसा तुम ठीक समझो लेकिन हे पुत्र! समस्त गुणों से परिपूर्ण विकासरूपी भूषणों से अलंकृत मेरी परमप्रिय पुत्री मनोरमा को तो अवश्य ग्रहण करो। कुमार वरांग स्वभाव से ही उदार थे इसलिए मामा के उक्त प्रस्ताव को उन्होंने स्वीकारा। उसकी अनुमती मिलते ही विवाह सम्बन्धी सभी तैयारियाँ तुरन्त ही करके वरांग का मनोरमा के साथ विवाह करा दिया।

तदनन्तर अनुपम पराक्रमी युवराज वरांग अपने पिता की राजधानी उत्तमपुर जाने के लिये अपने सार्थपिता की अनुमति लेने के लिये उनके पास गये। वरांग ने सार्थपिता से कहा कि जब मैं गहन वन में ठोकरें खाता फिरता था, जब कोई सहायक और मित्र नहीं था, मेरे पिता भी मेरे सहायक नहीं हो सके थे उस समय आप ही मेरे पिता हुए थे। इसलोक तथा परलोक दोनों में कल्याण करनेवाले आप ही सच्चे गुरु हो। महाराज देवसेन की अभी क्या इच्छा है वह तो आप जानते ही हो। मैं भी उनके

साथ युद्ध में जाने के लिये बहुत ही उत्सुक हूँ लेकिन मैं अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि आपकी अनुमति से जाना चाहता हूँ। धर्मपिता सार्थपति ने पुत्र के विनयपूर्वक वचनों को सुनकर कहा कि हे सुमते! तेरे बिना मैं भी यहाँ जीवित नहीं रह सकूँगा। तेरे कारण आज मैं समस्त राज्य में इतना मान्य हो गया हूँ कि जिसकी तुलना करना भी असम्भव है। जब तू मुझे छोड़कर चला जायेगा तो तू ही बता कि मैं किसके सहारे जीऊँगा? इसलिए हे सुमेरु समान धीर-गंभीर पुत्र! तू जहाँ भी जाये वहाँ मुझे साथ ले चल। धर्मपिता सागरवृद्धि की बात सुनकर युवराज वरांग ने कहा कि जैसी आपकी आज्ञा।

तदनन्तर महाराज देवसेन ने वरांग तथा सेठ सागरवृद्धि सहित समस्त सैन्य के साथ युद्ध के लिए उत्तमपुर की ओर प्रस्थान किया। उत्तमपुर पहुँचकर सबसे पहले सेठ सागरवृद्धि महाराज धर्मसेन के पास गये और उन्हें महाराज देवसेन के आगमन का समाचार दिया तथा सैन्य के प्रमाण के साथ युवराज वरांग की सभी बात भी की। सार्थपति ने ऐसा भी कहा कि यही आपका पुत्र वरांग है। यह बात सुनते ही महाराज धर्मसेन की खुशी की सीमा न रही। यह बात सुनते ही महाराज ने सागरवृद्धि का खूब सन्मान किया अपने खोये हुए पुत्र के समाचार मिलते ही आतुर होकर महाराज धर्मसेन अपनी चतुरंग सेना के साथ उससे मिलने के लिये सामने गये। उनके नजदीक पहुँचते ही उनका स्वागत हुआ और महाराज धर्मसेन अपने युवराज वरांग तथा साले महाराज देवसेन से गले मिले। अत्यंत दीर्घ अंतराल के बाद अपने प्रिय साले को तथा सदा के लिए खोये हुए अपने पुत्र को देखते हुए महाराज धर्मसेन को ऐसा आभास हुआ कि आज मैंने विशाल पृथ्वी को जीत ली है कि जिसकी सीमा लवण महासमुद्र ही है। यह पूरा दिन तो बातें करने में व्यतीत हो गया। महाराज धर्मसेन

ने कुमार वरांग को संध्या के समय आज्ञा की कि हे वत्स! रात्रि आराम से व्यतीत होने के बाद जब सूर्योदय होगा तब तुरंत ही प्रात:कालीन सब विधि करके राजधानी की ओर प्रस्थान कर देना। नगर में प्रवेश करने के बाद तुरन्त ही सबसे पहले अपनी माता को मिलना।

युवराज वरांग स्वभाव से ही दारुण योद्धा थे, इसलिए महाराज की आज्ञा सुनते ही कहा कि हे नाथ! जो शत्रुरूपी अतिथि युद्ध करने के लिए आया है, पहले मैं उसका शस्त्रों से स्वागत करूँगा। उसका स्वागत करने के बाद ही मैं राजधानी में प्रवेश करूँगा।

सुषेण के विजेता बकुलेश्वर को महाराज देवसेन के कुमार वरांग सहित आने के समाचार अपने गुप्तचर द्वारा मिले तब उसकी सेना का प्रमाण और कुमार वरांग का नाम सुनते ही वह अपने राज्य में वापस भाग गया। इस ओर महाराज धर्मसेन के गुप्तचर बकुलेश्वर की सेना का प्रमाण देखने आये तब उन्हें पता चला कि वह तो अपने सैन्य के साथ भाग गया है। यह खुशी के समाचार देने के लिए गुप्तचर तुरंत ही लौट आये। समाचार सुनते ही तीनों राजाओं की खुशी का पार न रहा। तुरन्त ही राजा की आज्ञा से विजय दुंदुभी बजाई गई और सभी ने नगरी की ओर प्रयाण किया। राज्य भवन में पहुँचते ही भव्य स्वागत हुआ तथा अपने पिता, मामा और मंत्रियों के आग्रह से वरांग का फिर से राज्याभिषेक किया गया और राज्यभार सौंपा गया। वैसे तो वरांग की इच्छा कुछ और ही थी लेकिन सबके आग्रह के कारण उस समय वह कुछ बोल न सका। तदनन्तर वरांग बहुत प्रेम से अपनी माता, बहिनें तथा पत्नियों से मिला और आराम से बातें करके सबको खुश किया।

देखो संसार की विचित्रता! पहले अधम कुमंत्री की सम्मति मानकर तथा पूर्वजन्म में किये हुए अपने कुकर्मों के फल का उदय आने पर वरांग को जंगल में भटकना पड़ा था। तथा पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही फिर से आज उसी सिंहासन पर बैठा है जहाँ से वह नीचे गिरकर जंगल में भटका था। इस मनुष्य योनि में इस जीव पर कई विपत्तियाँ आती हैं, घोर संकट आ सकता है, विपुल संपदा का समागम होता है, कभी वियोग है तो कभी संयोग है, एक समय समृद्धि है तो दूसरे समय सर्वतोमुख हानि है लेकिन जो सज्जन प्राणी श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करता है, वह तीनों लोक में जो सार है उसे अच्छी तरह जानता है, उसका आचार-विचार उदार है, शुद्धियुक्त मार्ग की आराधना करता है तथा निर्दोष आचरण का पालन करता है तथा परभव में निश्चय से परमसुख प्राप्त करता है।

कई दिनों बाद एक दिन ललितेश्वर देवसेन ने महाराज धर्मसेन के पास जाकर अपनी राजधानी वापस लौटने की अभिलाषा व्यक्त की। महाराज धर्मसेन ने प्रेम से अनेक भेंट देकर उनको विदा किया। अब राजा वरांग के राज्य में सभी सुखी थे, सिर्फ सुषेण उसकी माता और उसके कपटी मंत्री को छोड़कर; क्योंकि इन तीनों ने अकारण ही राजा वरांग के प्रति घोर अपराध किया था। सोच रहे थे कि अनुपम पराक्रमी तथा असहाय तेजस्वी राजा वरांग के धर्म को धन्य है तथा उसकी क्षमा शक्ति और गंभीरता का तो कहना ही क्या कि पूर्ण प्रभुत्व मिलने पर भी अपने सुनिश्चित अपराधिओं पर करुणाभाव ही दिखा रहा है तथा अपने जैसे दुराचारिओं को सुखपूर्वक रहने दे रहा है।

मंत्री ने रानी तथा सुषेण को कहा कि हमें ऐसे समय में वृथा अभिमान छोड़कर वरांग राजा से क्षमा याचना करने तथा उनके दर्शन करने जाना चाहिए। देखो, आप दोनों ने पहले ही

मेरी सलाह नहीं मानी थी जिसका फल सामने ही है। बाद में तीनों ने मत-विनिमय करके नूतन राजा से माफी मांगने का निर्णय किया। फिर भी वह लोग आशंका के कारण बहुत डरते थे कि यदि राजा दंड देंगे तो? अतः ऐसी अवस्था में वे लोग एकांत स्थान में विराजमान राजा वरांग के पास गये। वहाँ जाकर उन्होंने कहा कि हे राजन्! आपने मन से भी हमारा बुरा नहीं चाहा था फिर भी नीचकार्य करने में हम दुरात्माओं ने आपके प्रति महान नीच अपराध किया है, फिर भी हम जीवित रहना चाहते हैं और उसी आशा से हम आपके शरण में आये हैं। हे नाथ! इस समय हमारे जैसे पतितों पर दया करो और क्षमा करके प्रसन्न होओ।

राजा वरांग ने जब अपनी सौतेली माता को आते देखा तो तब उन्होंने आसन छोड़कर प्रणाम करके कहा कि आप ऐसा अनुचित विनय न करो। सुषेण से गले मिले और मंत्री को कहा कि आप किसी भी प्रकार का भय न करो ऐसा कहकर धैर्य बंधाया। जिन लोगों ने इस धरती पर मेरे से विरुद्ध आचरण किया है अथवा मेरे से संग्राम करने का दुस्साहस किया है उसे मैं ढूंढ-ढूंढकर यमलोक पहुँचा देता हूँ। परंतु जो मेरी आज्ञानुसार आचरण करता है उसका मैं सब तरह से पालन-पोषण करता हूँ ऐसा मेरा दृढ़ मानना है।

वरांग के नीतिपूर्ण उदार वाक्यों से सुषेण, उसकी माता और मंत्री तीनों निश्चिंत हो गये। उनके अनिष्ट की आशंका तथा शोक बिलकुल नष्ट हो गये। राजा के अनुपम क्षमाभाव ने सुषेण आदि तीनों के हृदयों को मैत्रीभाव से रंग दिया। जो साधु स्वभावी पुरुष उन व्यक्तियों को भी क्षमा कर देता है जिन्होंने उनके प्रति अक्षम्य अपराध किये हों उन सज्जन प्राणियों को ही विवेकी महानुभाव क्षमाशील कहते हैं। परंतु घातक अपराध करनेवाले के साथ भी वह अच्छा व्यवहार करता है तो ऐसी क्षमा को दैवकृत क्षमा ही

समझनी चाहिए।– ऐसा विचार करते हुए जब वे चले गये, तब वे युवराज वरांग अपने धर्मपिता सागरवृद्धि के साथ अपने पिता महाराज धर्मसेन के पास गये। वरांग ने पिता से कहा कि हे महाराज! अपने पूर्वजों के समय से चले आ रहे इस उत्तमपुर पर आपका शासन तो है ही, मेरे सौतेले भाई सुषेण का भी आधे राज्य पर जन्मसिद्ध अधिकार है। तदुपरांत आप सबके प्रताप से मुझे भी इस पद का अधिकारी बना दिया है। इसप्रकार वर्तमान में यहीं तीन राजा विद्यमान हैं। अब आप ही कहो कि एक ही नगर में तीन राजा कैसे हो सकते हैं? हे जनक! यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके श्री चरणों के प्रसाद से मैं अपना राज्य वर्तमान में मनुष्यों की वस्ती से सर्वथा रहित वन को लेकर नये नगरों को बसाऊँगा। यदि आपका मेरे ऊपर सच्चा स्नेह हो तो मुझे जाने की आज्ञा दो, किसी भी कारणों से रोकना नहीं।

पुरुषार्थी पुरुषसिंह के लिये सर्वथा योग्य पुत्र के वचन सुनकर महाराज धर्मसेन ने कहा कि हे पुत्र! वास्तव में तू ही मेरा सच्चा पुत्र कहलाने लायक है। वृद्धावस्था में मुझे तेरा ही सहारा है और तू ही मेरे जीवन के अंतिम दिनों का अच्छी तरह से निर्वाह कर सके–ऐसा है। इन सब कारणों से हमको छोड़कर जाना तुझे शोभा नहीं देता। पूज्य पिता के हृदय में से निकले हुए शब्दों को सुनकर वरांग ने इतना ही कहा कि हे महाराज! मुझे पता है कि आपका मेरे ऊपर अधिक स्नेह है, फिर भी मेरा मन उसी कार्य पर प्रेरित हो रहा है। इसलिये आपको निवेदन कर रहा हूँ कि आप मुझे नूतन देश निर्माण करने की आज्ञा अवश्य दें।

युवराज वरांग के वचनों को सुनकर राजा को स्पष्ट हो गया कि उनके प्राणप्रिय पुत्र ने जो निश्चय कर लिया है उसे वही करना श्रेयकर होगा। अतः राजा ने कहा कि हे पुत्र! तेरे सभी मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण हों। आज्ञा मिलते ही युवराज वरांग ने पिता तथा

धर्मपिता दोनों के चरणों में प्रणाम करके अपनी माता आदि सभी सम्बन्धिओं से मिलकर आज्ञा ले ली। इस कार्य से निवृत्त होकर उसने उन्हीं लोगों को अपने साथ चलने की आज्ञा दी जो प्रसन्नता तथा उत्साहपूर्वक उसका साथ देना चाहते थे। जब सब तैयारियाँ हो गईं तब बड़े वैभव के साथ उसने उत्तमपुर से प्रयाण किया। महाराज धर्मसेन की आज्ञा से अनुभवी तथा कुशल सेनानायक, योद्धा, मंत्री तथा असाधारण विद्वान, जो कि पुत्र के नूतन राज्य के भार को सहजता से सम्हाल सकें ऐसे सभी कर्मचारी वरांग के पीछे-पीछे चले।

चलते-चलते वे लोग मणिमंत पर्वत पर पहुँचे। सरस्वती नदी और मणिमंत पर्वत के बीच में जो विशाल अंतराल है उस भूमि पर प्राचीन समय में श्रीकृष्ण महाराज ने कंस को मारकर आनर्तपुर नगर बसाया था। इस प्राचीन इतिहास का जब वरांग को पता चला तब उन्होंने राजनीति आदि शास्त्रों के पारंगत तथा सूक्ष्म विचारक अनंतसेन आदि अनुभवी मंत्रियों के साथ चर्चा करके उसी स्थान पर पहले की तरह ही नगर का निर्माण कराया।

राजा वरांग के पूर्व पुण्योदय के प्रताप से जब आनर्तपुर के निर्माण के समाचार चारों ओर फैल गये तब समाचार सुनते ही सभी दिशाओं से महासंपत्तिशाली सज्ज्न लोग उस नगर में आ गये। राजा वरांग ने जो-जो कार्य करने का निश्चय किया था, अब वे सब पूरे हो गये थे। एक दिन सुखपूर्वक प्रखर प्रतिभाशाली मंत्रियों के साथ बैठे-बैठे अपने मन में ही वे उपकारों को याद कर रहे थे कि जो सेठ सागरवृद्धि ने उनके ऊपर किये थे। उनका ध्यान आते ही कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए अच्छा अवसर देखकर मंत्रियों की सम्मतिपूर्वक सार्थपति का राज्याभिषेक करने का प्रस्ताव रखा। राजा के उदारतापूर्ण प्रस्ताव को सुनते ही सेठ सागरवृद्धि समझ गये थे कि बुद्धि के अवतार राजा वरांग का उनके ऊपर

कितना अनुग्रह है, परंतु वे यह भी जानते थे कि वणिक होने के कारण वे राज्यलक्ष्मी के उपर्युक्त नहीं थे इस विचार को ठीक समझकर उन्होंने राजा से कहा कि हे राजन्! मेरे वंश में उत्पन्न हुए मेरे किसी भी पूर्वज को राज्याभिषेक कराने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए मेरे कुल में अनादिकाल से जो परम्परा चली आ रही है उसे तोड़कर मैं राजा बनूँ यह मुझे शोभा नहीं देता।

सार्थपति सागरवृद्धि के बुद्धिमतापूर्ण ऐसे वचनों को सुनकर राजा वरांग ने यही निवेदन किया कि इस विषय में आप ज्यादा कुछ मत कहो। जरा सोचिये कि जिसका पुत्र सर्वमान्य राजा है उसके पिता वणिक हैं इस बात को जगत में जो कोई सुनेगा वह खूब हँसेगा। क्या आप यह नहीं सोचते? इसप्रकार निवेदन करने के बाद धर्मपिता के विरोध को ध्यान में लिये बिना ही राजाओं के जैसे ही उनका भी राज्याभिषेक हुआ, उसी समय घोषणा करा दी कि श्रीमान् राजा सागरवृद्धि आज से विदर्भ नगर के राजा हैं। राजा सागरवृद्धि के ज्येष्ठ पुत्र को आग्रहपूर्वक कौशल का राज्य तथा कनिष्क पुत्र को कलिंग देश का राज्य दिया। महामंत्री अनंतसेन को पल्लवदेश का राज्य दिया। इसप्रकार सब मंत्रियों को उनके योग्य देश का शासन सौंपा।

राजा वरांग सुषेण को भी राज्य देना चाहते थे लेकिन अब उनके पास कोई भी राज्य नहीं बचा था - इसी चिंता में बैठे-बैठे अचानक उनको बकुलेश्वर की याद आ गई कि जिसने उनके पिता का अपमान किया था। यह अपमान याद आते ही राजा वरांग ने अपना दूत बकुलेश्वर के पास पत्र लेकर भेजा कि जिसमें लिखा था कि या तो युद्ध कर या तो राज्य छोड़कर वन में चला जा। यह समाचार सुनते ही मंत्रियों सहित बकुलेश्वर डर गया। उसने अपने मंत्रियों को इस परिस्थिति का हल सोचने को कहा।

मंत्रियों का मत ऐसा हुआ कि इस परिस्थिति में से बचने

का एक ही उपाय है और वह यह है कि राजपुत्री मनोहरा का शास्त्रानुकूल विधि से आनर्तपुर नरेश वरांग के साथ विवाह कर दिया जाय। इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं। बकुलेश्वर भी मंत्रियों के अभिप्राय से सहमत हुआ। ऐसा निर्णय कर अपनी पुत्री को लेकर बकुलेश्वर आनर्तपुर पहुँचा और राजसभा में पहुँच कर दूर से ही राजा वरांग को देखकर प्रणाम किया और कहा कि हे महाराज! जो राज्य मेरे वंश में कितनी पीढ़ियों से चला आ रहा है उस राज्य को आप अपनी इच्छा से किसी को भी सौंप दो, परन्तु हे नरनाथ! मैंने आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण करके जो अपराध किया है उसे क्षमा कीजिये। राजा वरांग तो स्वभाव से ही साधु परिणामी थे। उन्होंने अपने शत्रु को माफ कर दिया तदनन्तर बकुलेश्वर ने अपनी पुत्री मनोहरा का महाराज वरांग के साथ विधिपूर्वक विवाह करा दिया।

तदनन्तर राजा वरांग अपने परिवारजनों के साथ सुख में मग्न थे। एक दिन जब राज्य में घूमने के बाद राजा वरांग वापस लौट रहे थे तब उनकी अनुपमा नामक पट्टरानी ने उनको देखा। वह रानी अपने विचारों में मग्न थी उतने में राजा अचानक उसके पीछे आकर खड़े हो गये। थोड़ी देर बातें करने के बाद दोनों धर्म की चर्चा करने लगे। महाराज वरांग ने रानी को नंदीश्वर विधान का महत्व समझाया तथा जिनमंदिर-जिनबिम्बप्रतिष्ठा का भी महत्व समझाया।

उन्होंने कहा कि हे भद्रे! जो भव्यजीव विधिपूर्वक जिनबिम्ब की स्थापना करके प्रतिदिन शुद्धभाव और द्रव्य द्वारा उनका पूजन करते हैं वे थोड़े ही समय में सर्वज्ञतारूपी फल को प्राप्त करते हैं। संसारचक्र में फिरते हुए जिन जीवों ने अपने पूर्वभवों में वीतराग प्रभु की शुद्ध भाव और द्रव्य से उपासना की थी, वे ही आगे

बढ़कर त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर बने हैं। तदनन्तर राजा वरांग ने एक भव्य जिनमंदिर की स्थापना कराई तथा स्वयं ने ही जिनप्रतिमा की स्थापना करी। इस भव्य उत्सव की पूर्णाहुति के बाद राजा ने कितने ही दिनों तक किमिच्छक दान दिया कि जिससे उनके राज्य में कोई भी दुःखी न रहा।

आनर्तपुर के अधिपति सम्राट वरांग की समस्त अभिलाषा ही पूर्ण नहीं हुई, अपितु संसार में जितना भी श्रेय था वह सब स्वयमेव ही उनके शरण में पहुँच गया था। वे प्रतिदिन प्रातःकाल से संध्या समय तक सत्कार्य तथा पुण्यमय उत्सवों में ही व्यस्त रहते थे। समस्त गुणों की खान सम्राट वरांग जनता के आदर्श थे, तदुपरांत उनका पौरुष अनुपम था। जिनमंदिर का महोत्सव पूरा होने के बाद सम्राट वरांग की पट्टरानी अनुपमा को गर्भ रहा। नौ मास पूर्ण होते ही उसने सूर्य समान अति-तेजस्वी कांतिमान बालक को जन्म दिया। भविष्य वक्ताओं ने शास्त्रोक्त रीति से कुंडली देखकर स्पष्ट कहा कि यह बालक भविष्य में विशाल साम्राज्य का एक मात्र भोक्ता होगा। गुरुजनों ने उसका नाम 'सुगात्र' रखा। उसमें अपने पिता की अपेक्षा एक भी गुण की कमी नहीं थी अर्थात् गुणों में पिता-पुत्र दोनों एक समान थे। अवस्था के हिसाब से भले ही अभी बालक था लेकिन शील आदि गुणों में वह वृद्ध था।

पट्टरानी अनुपमा के जैसे ही सम्राट वरांग की अन्य पत्नियों को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। उन सब में भी समान गुणों की उपलब्धि थी। सम्राट वरांग के सभी पुत्र रूप, शील, पराक्रम आदि में नागकुमार देव समान थे। एक दिन की यह घटना है कि सम्राट वरांग अपने महल की छत पर बैठे थे। उस समय के उनके तेजस्वी रूप को देखकर इन्द्र का स्मरण हो आता था। सम्राट उस समय स्वभाव से ही अत्यंत शांत थे। उनके चारों ओर उनकी रानियाँ उनको घेरकर बैठी हुई थी। देवराज इन्द्र अपनी राजधानी

अलकापुर में स्वर्गीय सुंदर अप्सराओं के साथ जैसे निःशंक रूप से केली तथा विहार करता है उसी तरह सम्राट वरांग भी आनर्तपुरी में अपनी लोकोत्तर रूपवती पत्निओं के साथ रहा करता था।

शरदऋतु की रात्रि का यह प्रथम प्रहर था। आकाश बादलों से शून्य होने से वह अनेक तरह के अद्‌भुत ताराओं की आभा से भासित होता था। ऐसे शांत वातावरणयुक्त आकाश में अकस्मात ही एक उल्कापात हुआ उसका प्रकाश चारों ओर फैल गया। सम्राट वरांग ने अपनी सुकुमार सुंदर पत्नियों के साथ उस दृश्य को देखा, लेकिन फिर भी सम्राट के ऊपर ही उस दृश्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनको प्रगाढ़ वैराग्य हो गया।

सम्राट कहने लगे कि सुकुमार ज्योतियुक्त तारिकाओं से घिरा हुआ यह उल्कापात जिस तरह आकाश में से अकस्मात ही गिरकर कही लुप्त हो गया है, इसी तरह अनुपम रूपवती इन प्राणप्यारी पत्नियों से घिरा हुआ मैं भी किसी दिन इस राज्यपद से च्युत होकर न जाने कहाँ लुप्त हो जाऊँगा?

जिस समय मैं उत्तमपुर का युवराज था तब भी मेरे पास सब कुछ होने पर भी सबके देखते हुए भी वह दुष्ट घोड़ा अज्ञात जंगल में ले गया और कोई मुझे नहीं बचा सका था। क्या मैं पूर्व जन्म में किये हुए पापकर्मरूपी दुर्दम घोड़े पर सवार होकर आज भी जन्म-मरणरूपी महावन में नहीं फिर रहा हूँ? क्या मेरा वास्तविक विवेक नष्ट नहीं हो गया है? क्या मैं उस भ्रमण समान आज भी धर्ममार्गरूपी राज्यपद से फिर से भ्रष्ट नहीं हो गया हूँ?

संसार के अपार तथा भीषण दुःखों का स्मरण करके वे कांप गये। इन्हीं विचारों में लीन रहकर वे विलास-सभा से उठकर अपने एकांतगृह में चले गये। संसार के विषयभोगों से उनको स्थायी विरक्ति हो गई। उनको आत्मा के पूर्ण विकास के साधक तत्त्वमार्ग

पर पूर्ण आस्था हो गई। परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ मुनि होने का निर्णय वे कर चुके थे इसलिए जैसे ही वे एकांतगृह में पहुँचे कि तुरन्त ही जगत के स्वभाव के बारे में सोचने लगे। अनित्य आदि बारह भावनाओं का चिंतवन करने लगे।

जो मनुष्य इस अनुपम मनुष्यपर्याय को इन्द्रियों से तृप्त करने में ही व्यतीत कर देते हैं वह व्यक्ति अगाध, अपार समुद्र के बीच में दो-चार कीलों के लिए अपनी नाव को तोड़ देता है। एक साधारण धागे के लिए वैडूर्यमणि के हार को तोड़ देता है। थोड़ी-सी राख के लिये चंदन के वृक्ष को जला देता है। हाथ में आये हुए अमृत को छोड़कर विष पीने लगता है।

मेरी अवस्था भी ऐसी ही हो जायेगी यदि मैं तत्त्वज्ञान से विमुख होकर उस धर्म को छोड़ दूंगा जो कि इहलोक तथा परलोक में समस्त सुख देनेवाला है तथा उस कर्म में लीन हो जाऊँगा जो कि निरंतर प्रत्येक अवस्था में पापबंध का कारण है। उस समय मेरे से ज्यादा निंदनीय दूसरा और कौन होगा?

अनेक दुःखमय पर्यायें व्यतीत करने के बाद यह अमूल्य मनुष्यपर्याय प्राप्त हुई है। सौभाग्य से सुरूप, सुबुद्धि आदि सभी प्रशस्त गुण मेरे में हैं फिर भी यदि मैं मनुष्य जन्म के साररूप रत्नत्रय को ग्रहण नहीं करता तो मेरे से बड़ा मूर्ख कौन होगा? अभी तक मेरे मोह ने मेरे विवेक के ऊपर पर्दा डाल रखा था इसलिए धर्ममय आचार-विचारों को भूल गया था। अभी मैं जो-जो पापमय कुकर्म यहाँ कर रहा हूँ उन कर्मों का कुफल अनेक दुःख तथा अकल्याण के रूप में मुझे भुगतना पड़ेगा।

सांसारिक विषयभोगों में लीन मनुष्यों का आयुष्य लंबा नहीं होता। वह वैभव, संपत्ति, सौंदर्य, स्वास्थ्य आदि भी हमेशा साथ नहीं रहते। जैसे आकाश में बिजली और बादल नष्ट हो जाते

हैं वैसे ही जो भी उत्पन्न हुए हैं एक दिन उनकी मृत्यु अवश्य होती है।

मनुष्य जीवन भी अत्यंत अनित्य एवं अशरण है यह जानकर शीघ्र ही अपने त्रिकाली तत्त्व की शरण में जाना चाहिए। सभी तरह से यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव को दु:ख से कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती, फिर भी यदि मैं मुनिधर्म अंगीकार न करूँ तो मुझे स्वयं को सब तरह से ठगा हुआ समझना चाहिए। पुत्रों की प्राप्ति से भी आत्मा को क्या लाभ होगा? क्योंकि वे सब संसाररूपी अंकुर के महा-परिणाम है। संपत्ति भी क्या सुख देगी? जो कि स्वयं ही सभी दु:खों का मूल कारण है। जिसके विचारों को मन से निकालना असंभव है ऐसी प्राणाधिक पत्नी भी किस काम की? उनको तो साक्षात् हृदयचोर, घातक शत्रु तथा दारुण सर्प ही समझना चाहिए; क्योंकि अनेक अपवित्रता की खान है। सगे सम्बन्धी भी क्या रक्षा करेंगे? वे स्वयं ही मनुष्य के जीवित बंधन है, अनेक प्रकार की दुविधाओं को जन्म देते हैं तथा ऐसे समर्थ साधन हैं कि जो सरलता से अनेक अनर्थों को उत्पन्न करते हैं।

अपने पुरुषार्थ से कमाई हुई संपत्ति भी क्या काम की? वह व्यर्थ में ही आशा के कठोर बंधन में बांध देती है, सभी अनर्थों की ओर प्रेरित करती है। फलस्वरूप संसार रूपी वन में घसीटनेवाले अशुभ कर्मों के बंध का कारण बनती है। विपुल पुरुषार्थ और पराक्रम से खड़ा किया हुआ राज्य भी परमार्थ सिद्ध नहीं करता। इस कारण दिन-रात चिंता करनी पड़ती है तथा अनेक पाप करने के कारण संसार परिभ्रमण भी बढ़ता है। विषय भोगों की भी क्या उपयोगिता है? उसका स्वाद लेने के लिये पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है फिर भी कभी तृप्ति नहीं होती। परिणाम यह आता है कि चारों गतियाँ भ्रमण शोक और दु:खों से परिपूर्ण हैं।

अपने पूर्वकृत कर्मों के फल स्वरूप जीवों को इस विस्तृत संसार

में समस्त सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जो इष्ट है उसकी प्राप्ति नहीं होती और जो अनिष्ट है वह साथ नहीं छोड़ता। संयोगवश जो इष्ट समागम होता है उसका भी वियोग हो जाता है तथा अनिष्ट का थोड़ी देर वियोग होता है तो फिर तुरंत ही उससे भी दृढ़ उसका भी दृढ़ संयोग हो जाता है। मान का अभाव और पग-पग पर अपमान सामने ही खड़ा रहता है।

सम्राट के हृदय में वैराग्य ने घर कर लिया था इसलिए उन्होंने तुरंत ही अपने परम आदरणीय तथा विश्वस्त सेठ सागरवृद्धि को बुलाया तथा कहा कि हे मान्यवर! मेरे पूज्य पिता महाराज धर्मसेन कर्म से ही मेरे पिता है लेकिन आपने तो निःस्वार्थ स्नेह के कारण मेरे धर्मपिता का स्थान प्राप्त किया है। जब मैं जंगल में भटक रहा था तब आपने ही मुझे शरण दिया था तथा जब भीलों के साथ युद्ध करके मरणासन्न हुआ था तब आपने ही मुझे बचाया था। आपने ही मेरे सुख-दुःख का इस प्रकार अनुभव किया है कि जिस प्रकार लोग अपना समझते हैं। मेरे राज्यप्राप्ति के अवसर पर आपने ही मुझे मुक्त करके राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया था। इस तरह आप मेरे माता-पिता समान ही नहीं, अपितु हितोपदेशी गुरु भी हो। आप मेरे परम पूज्य हो इसलिए मेरा कर्तव्य है कि कोई भी कार्य करने से पहले आपकी आज्ञा मुझे लेनी चाहिए, इसलिए मेरी इच्छा मैं आपको कहता हूँ, यदि आपको योग्य लगे तो मुझे जरूर सम्मति देना।

हे साधु! आनर्तपुर तथा उसके पहले उत्तमपुर में जिस तरह आपने मेरा राज्याभिषेक कराया था उसी तरह अब मेरे ज्येष्ठ पुत्र सुगात्र को आनर्तपुर की राज्यलक्ष्मी का स्वामी बनाने की कृपा करो; क्योंकि कुमार सुगात्र ही राज्यपद के लिये सुयोग्य है। आप भी स्वाभाविक रुचि से विस्तृत साम्राज्य तथा प्रजा के साथ-साथ कुमार सुगात्र का भी अभ्युदय करना। मैं यह आपको इसलिए

बता रहा हूँ कि अब मुझे लोक के विषयभोगों से विरक्ति हो गई है। अब तो आप सबके आशीर्वाद से मैं तप करूँगा। हे पिताजी! अब मुझे आज्ञा दीजिये।

सम्राट वरांग के वचन सुनकर धर्मपिता को बहुत दुःख हुआ। इष्ट-वियोग की आशंका से सेठ ने सम्राट को अनेक तरह से समझाया। सांसारिक दृष्टि से वे सही थे लेकिन अपने आत्महित के लिए वह सब असत्य था। धर्मपिता के वचनों को सुनकर सम्राट ने उनके सामने संसार का वास्तविक नग्न स्वरूप रख दिया। सेठ सागरवृद्धि ने सम्राट के वचनों को सुनकर कहा कि अब तक मैंने आपके सभी प्रसंगों में साथ दिया है इसलिए अब यदि मैं आपसे अलग हो जाऊँगा तो वास्तव में मेरे से अधम कोई न होगा। इसलिये आज मैं भी आपके ही मार्ग पर मेरी शक्ति अनुसार चलूँगा।

तदनन्तर सम्राट के कहने से सेठ अंतःपुर में जाकर उनकी सभी रानियों को उनके पास ले आये। सम्राट ने सभी रानियों से क्षमा याचना करने के बाद दीक्षा लेने की अपनी भावना उनसे कही। यह बात सुनते ही सभी रानियाँ जोर-जोर से विलाप करने लगी तथा उनके मुखकमल तुरन्त ही मुरझा गये। उनको समझ नहीं आ रहा था कि हमसे ऐसी क्या भूल हो गई कि सम्राट हमको छोड़कर वैराग्य धारण करना चाहते हैं। सम्राट ने अपनी रानियों को भी समझाया। सम्राट के वचनों को सुनकर रानियों ने भी उनके साथ दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया।

तदनन्तर सम्राट वरांग अपने पिताश्री महाराज धर्मसेन के पास आज्ञा लेने के लिये गये। राजा ने भी जब यह बात सुनी तो उनको भी बहुत दुःख हुआ। उन्होंने वरांग से कहा कि हे पुत्र! आनर्तपुर और उत्तमपुर का राज्य तेरे आधीन ही है। तू चला जाएगा तो इन दोनों राज्यों का क्या होगा? उन्होंने कहा

कि तप तो बहुत ही दुष्कर है और तुम अभी बालक हो। तुम कष्ट सहन नहीं कर सकोगे, वृद्धावस्था में तप ग्रहण करना।

पिता के वचन वरांग ने विनयपूर्वक सुने। सम्राट वरांग ने पिता को कहा जब महल में आग लगी हो तब समझदार पुरुष बाहर भागने का प्रयत्न करता है, परंतु जो शत्रु है वह उसे पकड़कर उलटा अग्नि में धकेलता है। मैं भी अभी सांसारिक दुःखरूपी ज्वाला में से निकलना चाहता हूँ तो हे महाराज! आप मुझे शत्रु समान फिर से उस ज्वाला में मत धकेलो।

समुद्र के बवंडर में से निकलकर अति कठिनाई से तट पर आये हुए को कोई शत्रु ही फिर से समुद्र में धकेलता है। दुर्गतिरूपी घातक लहरों से व्याप्त समुद्र में हे पिताजी! आप मुझे फिर से न धकेलो। मैं वैराग्यरूपी अमृत ग्रहण करने जा रहा हूँ तब आप मुझे राज्यलक्ष्मीरूपी विष ग्रहण करने पर मजबूर न करो।

कोई शत्रु आक्रमण करके संपत्ति छीन लेता है, कोई अपने अंग को काटता है तथा कोई मार भी देता है; परंतु जो पुरुष धर्माचरण में बाधक होता है वह पुरुष महा निर्दय है; क्योंकि वह एक-दो भव नहीं, लेकिन सैकडों जन्मों के सुखों को मिट्टी में मिला देता है।

पुत्र के ऐसे वचनों को सुनकर महाराज धर्मसेन ने प्रसन्नता पूर्वक कहा कि हे पुत्र! संसार में मनुष्य के प्रारब्धकार्य में अनेक प्रकार से विघ्न खड़ा किया जा सकता है; लेकिन इन सबसे बहुत ही ज्यादा तथा भव-भवांतर बिगाड़नेवाला विघ्न वही है जो धर्मकार्य करने में बाधा करे। यह सब जानते हुए भी मैंने तुझे यह सब कहा वह केवल पितृस्नेह के कारण ही कहा है, वास्तव में जिसका परिणाम निश्चय से दुःखदायी ही हो वह ठीक कैसे हो सकता है! अतः तुम उन सब वचनों पर ध्यान न देना, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि विशाल है।

पुरुषसिंह वरांग को सबसे अधिक कठिनता का अनुभव तो तब हुआ कि जब वे अपनी माताओं से विदा लेने गये। फिर भी कोई युक्ति तथा उपाय से उनसे भी आज्ञा ले ली। सबको मिलने के बाद अंत में उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुगात्र को राज्यसभा में बुलाकर सब बात कही। राज्य में लोकप्रिय, न्यायनीति आदि का उपदेश दिया। तदनन्तर सुगात्र का राज्याभिषेक किया गया।

सुगात्र का राज्याभिषेक होते ही सम्राट वरांग वन की ओर चल दिये। उनके साथ उनकी रानियाँ तथा धर्मपिता भी चले जा रहे हैं। वे चलते-चलते सिद्धाचल पर्वत पर पहुँचे कि जहाँ भगवान श्री नेमिनाथ भगवान के प्रधान गणधर श्री वरदत्त केवली विराजमान थे। वहाँ पहुँचकर वंदना आदि करके सम्राट वरांग ने केवली भगवान से प्रार्थना की कि हे सर्वज्ञ देव! तीन लोक के जीवों को आप ही एक मात्र आधार हो। मैं स्वयं संसार से डरा हुआ हूँ इसीलिए उससे मुक्ति पाने के लिए आपकी शरण में आया हूँ। हे ऋषिराज! कृपा करके मुझे उस देश में ले चलो कि जहाँ कुकर्मों की धूल उड़ती ही न हो। जिसमें शांति का भंग करनेवाला जन्म-मरण का तूफान चलता ही न हो। इस तरह भगवान के पास प्रार्थना करके वहीं उनके सामने ही दीक्षा धारण कर ली। उनके दीक्षा लेते हुए देखकर उनके साथ दूसरे अनेक राजाओं ने, उन राजाओं की पत्नियों ने, वरांग की पत्नियों ने, सेठ सागरवृद्धि ने, उनके मंत्रियों ने, उनकी पत्नियों ने इत्यादि अनेकों ने भी प्रव्रज्या धारण कर ली। इस तरह दीक्षा समारोह समाप्त होने के बाद साथ में आये हुए अन्य राजा तथा नगरवासी वरदत्त केवली के दर्शन करके अपने नगर को वापस लौट चले।

अब मुनिराज वरांग घोर तप करने लगे। उनके साथ दूसरे मुनि भी तप करते। राजा वरांग की जिन रानियों ने दीक्षा ली थी वे भी घोर तप कर रही थीं। वीरों के मुकुटमणि सम्राट वरांग

ने जिस उत्साह और लगन से आनर्तपुर के विशाल साम्राज्य को छोड़कर परम शुद्ध निर्ग्रंथ दीक्षा धारण की थी और मुनि वरांग बनकर शुद्ध संयम तथा तप का आचरण किया था तथा अंत में समाधिमरण करके उसी निरपेक्ष भाव तथा शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के साथ देवलोक के मस्तकतुल्य सर्वार्थसिद्धि विमान में उपपाद शैय्या से उत्पन्न हुए। वहाँ उत्पन्न होने का तात्पर्य यह है कि अगले भव में निश्चय से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

उनके साथ जिन-जिन राजाओं ने दीक्षा लेकर तप किया था तथा सागरवृद्धि सेठ वे सब स्वर्ग में उत्पन्न हुए। सम्राट वरांग की रानियाँ, जो कि आर्जिका हुई थी वे भी उग्र तप करके स्त्रीलिंग छेदकर देवपर्याय में उत्पन्न हुईं।

प्रथम सम्राट वरांग और बाद में महर्षि वरांग अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी के स्वयंवृत वर थे। उनकी कीर्ति विशाल और सर्वव्यापी थी। उनमें विवेकशक्ति भी अपार थी। ऐसे राजर्षि के इस चरित्र को जो पुरुष अपने जीवन में उतार लेगा, वह निश्चय से अनुपम पद प्राप्त करेगा।

न तो मैं निर्मल व्याकरण शास्त्र को जानता हूँ, न तो मैं काव्य जानता हूँ, न तो मैं तर्क आदि जानता हूँ और न ही अलंकार आदि गुणों से अलंकृत छंद को भी जानता हूँ। मैंने इस पवित्र चरित्र का अनुवाद किसी भी प्रकार की कीर्ति आदि की वांछा अथवा मान के वश नहीं किया है, किंतु पापों का नाश करने के लिये किया है। जो विशुद्ध बुद्धिवाले हैं, शास्त्रों के पार पहुँचे हुए हैं, परोपकार करने में कुशल हैं, पाप से रहित हैं और भव्य हैं उन्हें, मुझ-मंदबुद्धि द्वारा किये हुए इस पवित्र चरित्र का अनुवाद संशोधन करके पृथ्वी पर प्रचार करना ऐसी निर्मल भावना सह।

-अनुवादक

➤ हमारे प्रकाशन ➤

चौबीस तीर्थंकर पुराण	(हिन्दी)	75/-
चौबीस तीर्थंकर पुराण	(गुजराती)	50/-
शिवपुर के राही (मल्टीकलर)	(श्री कानजीस्वामी का जीवनदर्शन)	50/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-1	(लघु कहानियाँ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-2	(सगर चक्रवर्ती, वज्रवाहु, सुकौशल)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-3	(ब्रह्मगुलाल, अंगारक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-4	(श्री हनुमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-5	(श्री पद्म (राम) चरित्र)	25/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-6	(अकलंक-निकलंक नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-7	(अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-8	(8 अंग और 5 अणुव्रतों की कथा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-9	(शासन नायक श्री वर्द्धमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-10	(सुभौम चक्रवर्ती, अमरकुमार नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-11	(सती अनंगसरा,निमित्त-उपादान नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-12	(बालि मुनिराज,महारानी चेलना नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-13	(यशोधर मुनिराज, धन्यकुमार कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-14	(नाटक-राजा श्रीकंठ, पुण्यप्रकाश...)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-15	(बंधुश्री एवं लुब्धक सेठ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-16	(सती मनोरमा एवं पं. टोडरमल नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-17	(प्रद्युम्नकुमार,जयकुमार,सूर्यमित्र कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-18	(सेठ सुदर्शन, दीवान अमरचंद नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-19	(षट् लेश्या, श्री जीवंधर चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-20	(श्री वरांग चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-21	(श्री गुरुदत्त चरित्र,सम्यक्त्वलीला नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-22	(श्री सुकमाल चरित्र, मृगध्वज कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-23	(श्रीकृष्ण, चंदनवाला कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-24	(उपसर्गजयी संजयंतमुनि, राजा श्रेणिक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-25	(कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य कुन्दकुन्ददेव)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-26	(बाईस परीषह : संवाद के रूप में)	30/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-27	(तू किरण नहीं सूर्य है)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-28	(लघु कहानियाँ, एकांकी नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-29	(भरत से भगवान : एक जीवनयात्रा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-30	(भगवान पार्श्वनाथ चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-31	(भगवान नेमिनाथ चरित्र)	20/-

हमारे प्रेरणा स्रोत : ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

जन्म
ई.सन् १९२४
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
८ दिसम्बर, १९८७
पौष वदी ३, सोनगढ़

सत्समागम
ई.सन् १९४३
अषाड़ सुदी दोज
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
ई.सन् २२.२.१९४७
फागण सुदी १
(उम्र २३ वर्ष)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की 19 वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने 32 वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इस प्रकार करते थे-

''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा...।''

आपने अपने जीवन में करीब 150 पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण**-इसे आपने 80 पुराणों एवं 60 ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन, भाग 1 से 6), सम्यग्दर्शन (भाग 1 से 8), अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, मूल में भूल, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनके बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ-यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।